

स्वामीब्रह्मानंदजी.



(श्रीरमापतये नमः ।)

अथ धर्मानुशासनम् ।

इदं

श्रीमत्परमहंसब्रह्मानंदस्वामिना विरचितम् ।

तदिदं

वंबईनगरे निर्णयसागराभिधाने मुद्रणालये तेनैव स्वामिना

मुद्रयित्वा प्रसिद्धिं नीतम् ।

विक्रमसंवत् १९७४ शकाब्दाः १८४० खिस्ताब्दाः १९१८

कींमत १।) सपादरूप्यकम्

पुस्तक मिलनेका पता—

स्वामी ब्रह्मानंदजी

मु० पुष्कर जिला अजमेर.

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, Nirnaya-Sagar Press,
23, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Swami Brahmanandji, Puskar, Dt. Ajmer.

प्रस्तावना.



ॐ सर्व महाशय सज्जनोंको विदित हो कि यद्यपि पहलेकें मनु याज्ञवल्क्य पराशर आदि महर्षियोंने वहुतसे धर्मशास्त्र निर्माण किये हैं परंतु तिनमें धर्म और व्यवहार मिलाय करकें लिखे है सो धर्मको व्यवहारसे जुदा करकें दिखलानेकें लिये तथा वेदशास्त्रपुराणोंमें वर्तमान कालके शंकायोंके समाधान निरूपण करनेके लिये विचारदीपक ईश्वरदर्शन योगरसायन भजनमाला आदि ग्रंथकर्ता पुष्करतीर्थनिवासी श्रीब्रह्मानंद स्वामीने यह पुस्तक निर्माण किया है तथा वंबईके निर्णयसागर प्रेसमें छपवाकर प्रसिद्ध किया है इति ॥



(अथ शुद्धिपत्रम्)



अशुद्धम्	पृष्ठं	पंक्ति ।	शुद्धम्
प्रमाणांतरपेक्षा	३१	५	प्रमाणांतरापेक्षा
शक्तिया	८३	१	शक्तियां
यहा	१३३	७	यहां
एवालिखा	१६४	११	एवाखिला
स्यभाव	१९७	१९	स्वभाव
शमादमादित्वं	२४७	९	शमदमादित्वं
धमशास्त्री	२६०	४	धर्मशास्त्री
भूताना	२६३	७	भूतानां
रितिसे	२६५	२	रीतिसे
जानमा	२९६	२	जानना



(श्रीरमापतये नमः)

अथ धर्मानुशासनप्रारंभः ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

अथ धर्मानुशासनम् ॥ १ ॥

भाष्यम् । अथेत्ययमत्राधिकारार्थो नतु मंगलार्थकः धर्मशब्दस्यैव मंगलरूपत्वात् पूर्वशास्त्रकारैरुपशासितस्यापि धर्मस्य पुनरनुशासनं शास्त्रकृतां भिन्नरुचित्वात् धर्मरहस्यगांभीर्यात् नानानवीनमतानुप्रचारात् देशकालयोर्विलक्षणत्वाच्च विज्ञेयम् ॥ १ ॥

ॐ प्रथम ग्रंथकी निर्विघ्नसमाप्तिके लिये मंगलाचरण करते हैं (जो परब्रह्म परमात्मा स्वर्गादि लोकोंमें पूर्ण है जो इस पृथिवीलोकमेंभी सर्वत्र पूर्ण है जिस पूर्णरूप परमात्मासें यह संपूर्ण जगत् उत्पन्न होवे है और पुनः प्रलयकालमें जो

परमात्मा सर्व जगत्को अपनेमें लीन करके केवल पूर्णरूपसें अवशेष रहता है सो परमात्मा हमको सर्व प्रकारसें शांति-प्रदान करे इति। अथ धर्मानुशासनम्। सूत्रमें जो अथशब्द है सो यहां आरंभका वाचक जानना मंगलका वाचक नहि क्योंकि सूत्रमें जो धर्मशब्द है सोई मंगलरूप है यद्यपि पूर्वके मनुयाज्ञवल्क्यआदि धर्मशास्त्रकारोंने धर्मका वहुत उपदेश किया है तथापि एकतो शास्त्रकारोंकी परस्पर भिन्नरुचि होनेसे दूसरे धर्मका रहस्य बडा गंभीर होनेसे तीसरे नानाप्रकारके नवीनमत प्रचार होनेसे और चौथे अव देशकालके विलक्षण होनेसे फिर धर्मका उपदेश प्रारंभ किया जाता है इति ॥ १ ॥

किमर्थं धर्मानुशासनम् ।

मनुष्यकर्त्तव्यत्वात् ॥ २ ॥

मनुष्यजातेरखिलकरणीयकार्येषु धर्मस्यैव मुख्यं कर्त्तव्यत्वमस्ति नहि पश्वादीतरजातयो धर्मज्ञाने तदाचरणे चाधिक्रियंते योग्यताऽभावात् ॥ २ ॥

प्रश्न. किस लिये धर्मका उपदेश किया जाता है। उत्तर, मनुष्यकर्त्तव्यत्वात् । मनुष्यजातिके जितने कुछ कर्तव्य कार्य हैं तिन सर्वमेंसे धर्मका आचरण करना मुख्य कर्त-

व्य है क्योंकि मनुष्योंसे दूसरी जो पशु पक्षि आदि जा-
तियां हैं सो धर्मके स्वरूप जानने और तिसके अनुष्ठान
करनेमें अधिकारी नहि हैं क्योंकि उनमें मनुष्यजैसी
योग्यता नहि है इति ॥ २ ॥

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थत्वाच्च ॥ ३ ॥

जीवस्याभ्युदयनिःश्रेयससाधनत्वादपि । धर्मस्या-
चरणं विधीयते ऐहिकपारलौकिकैश्वर्यप्राप्तिरभ्युदयः
निःश्रेयसं तु जीवस्य कैवल्यं तदेतदुभयं धर्ममूलक-
मेवेति विनिश्चितम् ॥ ३ ॥

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थत्वाच्च । जीवके अभ्युदय और
निःश्रेयसका साधन होनेसेभी धर्मका अनुष्ठान करना
आवश्यक है क्योंकि इस लोक तथा परलोकके भोगोंकी
प्राप्तिरूप जो अभ्युदय है और कैवल्यमोक्षरूप जो निः-
श्रेयस है तिन दोनोंकी प्राप्तिमें धर्म हि मूलकारण
निश्चय किया हुया है इति ॥ ३ ॥

तदकरणे दोषित्वम् ॥ ४ ॥

तस्य धर्मस्याननुष्ठाने तु मनुष्यजातेर्दोषित्वं भव-
तीति ॥ ४ ॥

इस प्रकार धर्मकी अवश्य कर्तव्यताको निरूपण करके

अब तिसके नहि करनेसे दोषकथन करै हैं । तदकरणे दोषित्वम् । तिस धर्मके नहि आचरण करणेसे मनुष्यजातिको दोषकी प्राप्ति होवे है इति ॥ ४ ॥

कथमेतत्

सामग्र्यनुपयोगात् ॥ ५ ॥

सर्वव्यवहारयोग्यो देहः शुभाशुभविचारक्षमा बुद्धिः स्वस्वविषयग्रहणपटूनीन्द्रियाणि सन्मार्गबोधकं शास्त्रं धर्मोपदेशकाश्च विद्वांसः सेयमीश्वरेणेतरजातिभ्यो मनुष्यजात्यैह्येव विशिष्टा सामग्री वितीर्णास्ति तामेतां धर्माचरणार्थमप्रयुञ्जानोयं नरो दोषभाग्भवत्येव तद्योग्यलाभवंचिततत्वात् ॥ ५ ॥

प्रश्न. किसकारणसे दोषकी प्राप्ति होवे है। उत्तर, सामग्र्यनुपयोगात् । सर्वव्यवहारके लायक शरीर शुभाशुभ विचारके योग्य बुद्धि और अपने अपने विषयोंके ग्रहण करनेमें चतुर इन्द्रियां सत्यमार्ग बतानेवाले शास्त्र तथा धर्मके उपदेश करनेवाले विद्वान् लोक यह सर्व सामग्री ईश्वरने अन्य जीवोंकी अपेक्षा मनुष्यजातिकोही विशेष वितीर्ण करी है सो इस सामग्रीको मनुष्य धर्मके निमित्त नहि लगानेसे अवश्य दोषका भागी होता है क्योंकि उक्त सामग्रीके योग्य लाभसे वंचित होता है इति ॥ ५ ॥

विपरीतोपयोगात् ॥ ६ ॥

न केवलं सामग्र्यनुपयोगादेवापि तु तद्विपरीतोपयोगादपि पुरुषस्य दोषित्वं दृश्यंते हि जगति बहवो जनास्तामेवैतां देहबुद्धीन्द्रियादिरूपां सामग्रीं परदुःखोत्पादनपरद्रोहचिंतनप्रतिषिद्धविषयसेवनादिषु प्रयुंजाना इति ॥ ६ ॥

विपरीतोपयोगात् । केवल उक्त सामग्रीके धर्मविषयमें नहि लगानेसे हि नहि किंतु तिसके विपरीत उपयोग करनेसेभी यह मनुष्य दोषी होता है क्योंकि तिसहि शरीर बुद्धि इन्द्रिय आदि सामग्रीको दूसरे जीवोंके दुख देनेमें और परद्रोहचिंतन करनेमे अनुचित विषयोंके सेवनमें लगाते हुये प्रायः बहुत लोक जगत्में देखनेमें आते हैं इति ॥ ६ ॥

ईश्वराज्ञातिक्रमात् ॥ ७ ॥

'सत्यं वद धर्मं चर धर्मान्न प्रमदितव्य' मित्येवं वेदात्मकेश्वराज्ञोल्लंघनादपि धर्ममनाचरतो नरस्य दोषित्वं नहि कश्चिदीश्वराज्ञानादरणेन दोषाद्विमुक्तो भवितुमर्हति राजाज्ञावहेलनेनेव लोके भृत्यादिरिति ॥ ७ ॥

ईश्वराज्ञातिक्रमात् । तैत्तिरीयउपनिषत्में लिखा है

कि (हे पुरुष तुं हमेशां सत्यभाषण कर और सर्वदा धर्मका आचरण कर धर्मकीं तरफ़से कवी प्रमाद मतकर इति) इस वेदवचनरूपी ईश्वरकी आज्ञाका उल्लंघन करनसे भी धर्मके सेवनके विना मनुष्य दोषी होता है क्योंकि ईश्वरकी आज्ञाका निरादर करनेसे कोईभी जीव दोषसे कवी रहित नहि होसकता जैसे राजाकी आज्ञाका निरादर करनेवाले नौकर लोक दोषरहित नहि हो सकते इति ॥ ७ ॥

पशुसाधर्म्याच्च ॥ ८ ॥

धर्ममनाचरतो मनुष्यस्य पशुतुल्यतापत्तेरपि दोषभागित्वं' आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ! धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' इति वचनात् ॥ ८ ॥

पशुसाधर्म्याच्च । धर्मके नहि सेवन करनेसे पुरुष पशुके तुल्य होनेसे भी दोषी होवे है क्योंकि नीतिशास्त्रमें लिखा है कि खाना पीना सोना डरना मैथुन करना यह सब काम मनुष्योंके पशुवोंके तुल्यहि हैं केवल धर्मका आचरण करना मनुष्योंमें अधिकता है है सो जो मनुष्य धर्मका आचरण नहि करते सो पशु के समानहि होते हैं इति ॥ ८ ॥

कोसौ धर्मों यदर्थमयं नियोगोभिधीयते

सर्वथा सुखफला क्रिया धर्मः ॥ १ ॥

स्वात्मनः परेषां वा सर्वजंतूनां सर्वप्रकारेण या सुखानुबंधिनी यस्यां क्रियमाणायां परिणामे सुखमेव भवति सा क्रिया धर्म इत्युच्यते तपश्चर्याराजदंडादिषु भविष्यत्सुखसंबंधान्नाव्याप्तिः चौर्यानृतभाषणमांसभक्षणपरस्त्रीगमनादिषु च भविष्यद्दुःखहेतुत्वान्नातिव्याप्तिरिति ॥ १ ॥

प्रश्न. तिस धर्मका क्या स्वरूप है जिसके आचरणके लिये यह प्रेरणा की जाती है। उत्तर. सर्वथा सुखफला क्रिया धर्मः। अपनेको और दुसरोंको सब जीवोंको जो सुख देनेहारी और जिसके करनेसे परिणाममें सर्व प्रकारसे सुखकी हि प्राप्ति होवे ऐसी क्रियाको धर्म कहते हैं यद्यपि तपश्चरण करनेमें और पापियोंको राजदंड आदिमें पहले दुःख होवे है परंतु भविष्यत्मे तिनको सुखकी प्राप्ति होवे है यातें धर्मके लक्षणमे अव्याप्ति नहि होवे है तथा चोरी असत्यभाषण मांसभक्षण परस्त्रीगमन आदिमें प्रथम सुखकी प्रतीति होवे है परंतु भविष्यत्में सो दुःखके हेतु होवे हैं यातें तिनमें अतिव्याप्ति नहि होवे है इति ॥ १ ॥

तस्यानेकत्वं मार्गभेदात् ॥ १० ॥

तस्य धर्मस्यानेकविधत्वं विज्ञेयं कुतः स्वरूपतः किलैकरूपस्यापि धर्मस्यानुष्ठानमार्गाणामनेकरूपत्वात् अनेनैव मार्गेण धर्माचरणं कार्यमिति नियमाभावात् संति हि शास्त्रेषु जपतपोदानाद्यनेकमार्गा धर्मस्य संपादनायोपदिष्टा धर्मविद्भिरिति ॥ १० ॥

तस्यानेकत्वं मार्गभेदात् । सो धर्म अनेकप्रकारका है यद्यपि स्वरूपसे धर्म एकप्रकारका हि है परंतु तिसके अनुष्ठान करनेके मार्ग भिन्न भिन्न हैं क्योंकि अमुक मार्गसे हि धर्मका आचरण करना चहिये ऐसा कोई नियम नहि है इसी लिये शास्त्रोंमें जप तप दान आदि अनेक मार्ग धर्मके संपादन करनेके लिये ऋषिलोकोंने कथन किये हैं यातें धर्म अनेक प्रकारका जानना चहिये इति ॥१०॥

पुरुषस्थितिभेदाच्च ॥ ११ ॥

भिन्ना हि पुरुषाणां स्थितयो दृश्यंते कश्चिन्नृपो महादानादिना धर्मं संपादयति दरिद्रश्चान्यो जपतपःसत्सेवादिभिस्तमर्जयतीत्येवमादि पुरुषस्थितिभेदादपि धर्मस्यानेकविधत्वमवसेयम् ॥ ११ ॥

पुरुषस्थितिभेदाच्च । पुरुषोंकी स्थितिके भेदसे भी धर्म

अनेक प्रकारका होवे है क्योंकि पुरुषोंकी स्थितियां भिन्न भिन्न देखनेमें आती हैं तिनमें कोई राजा है सो वडे दान पुण्यआदि करके धर्मका संपादन करता है और दूजा गरीब पुरुष जप तप साधुसेवा आदि करके धर्मको संपादन करता है इस प्रकार पुरुषोंकी स्थितिके भेद होनेसे भी धर्मका भेद होवे है इति ॥ ११ ॥

एवं तर्हि कस्य धर्मस्याचरणं समुचितं ?

तदाचरणमानुकूल्यात् ॥ १२ ॥

स्वदेशं कालं स्थितिं चावलोक्य यो धर्मः सर्वथा प्रायो वा स्वानुकूलः स्यात् तस्यैव सततमनुशीलनं विधेयं न ह्यनुकूलत्वाभावे कस्यापि धर्मस्य सम्यक्तयानुष्ठानं जायते ततः स्वानुकूल्येनैव धर्मस्याचरणं कर्तव्यम् ॥ १२ ॥

प्रश्न. तो फिर किस धर्मका आचरण करना ठीक है। उत्तर, तदाचरणमानुकूल्यात् । अपना देश काल और स्थितिको विचार करके जो धर्म सर्वथा अथवा प्रायः अपने अनुकूल होवे उसी धर्मका सर्वकाल आचरण करना योग्य है क्योंकि अपनी अनुकूलताके विना किसी धर्मका सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान नहि होसके है यातें

अपनी अनुकूलताके अनुसार हि धर्मका आचरंण करना चाहिये इति ॥ १२ ॥

बलाबलपरीक्षणम् ॥ १३ ॥

धर्माचरणमभिलषता पुरुषेणादौ तावत् को धर्मः श्रेष्ठतमः कः श्रेष्ठः कश्च साधारण इत्येवं धर्मविषये बलाबलमुच्चनीचत्वं परीक्षणीयं सम्यग्धर्मपरीक्षानंतरमेव तत्परेण भाव्यं तथा मनुरपीममर्थमादिदेश 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर' इति ॥ १३ ॥

बलाबलपरीक्षणम् । धर्माचरणकी इच्छावाले पुरुषको प्रथम तिसका बलाबलविचार लेना चहिये अर्थात् कौन धर्म सर्व धर्मोंसे श्रेष्ठ है कौन मध्यम है और कौन कनिष्ठ है इस प्रकारसे धर्मविषयमें उत्तम मध्यम कनिष्ठपणेकी परीक्षा करलेनी चहिये फिर पीछे तिस धर्मके तत्पर होना चहिये तथा मनुस्मृतिमे भी लिखा है कि (ऋषियोंके उपदेश कियेहूये धर्मको जो पुरुष वेद और शास्त्रोंके अनुसार परीक्षा करता है सोई ठीक धर्मके रहस्यको जानता है दूसरा नहि इति) ॥ १३ ॥

स्ववृद्धपरंपरागतधर्ममार्गानुसारिभिरेव पुरुषैः कथं न भाव्यं किमु धर्मपरीक्षणप्रयासेनेत्यत्राह

तारतम्यसंभवात् ॥ १४ ॥

संभाव्यते हि धर्मानुष्ठाने क्वचिन्न्यूनत्वं क्वचिच्चाधिकत्वं धर्मरहस्यविद्भिरनुभूयते हि लोके काश्चित्सामान्यधर्मपरायणाः काश्चिन्मध्यमधर्मसमाश्रिताः काश्चिच्चोत्तमधर्मनिरता नरजातयस्ततो धर्मपरीक्षणं युक्तम् ॥ १४ ॥

प्रश्न. अपने कुलवृद्धोंकी परंपरासे आयेहुये धर्मकाहि सेवन क्यों नहि करना चहिये धर्मकी परीक्षा करनेकी क्या आवश्यकता है। उत्तर, तारतम्यसंभवात्। धर्मके अनुष्ठान करनेमें किसी जगा न्यूनता होती है और किसी जगा अधिकता होती है सबी जगा धर्मका लाभ बराबर नहि होता है क्योंकि कोई मनुष्यजातियां कनिष्ठ धर्मका सेवन करती हैं कोई मध्यम धर्मका सेवन करती हैं और कोई उत्तम धर्मका सेवन करती हैं यह वार्ता धर्मके रहस्य जाननेहारे केवल विद्वानोंके अनुभवमे आती है याते धर्मकी परीक्षा करनी ठीक है इति ॥ १४ ॥

इतश्च धर्मपरीक्षणस्यावश्यकत्वं

प्रयाससाम्येपि फलवैषम्यात् ॥ १५ ॥

स्वस्वधर्मं श्रेष्ठं मन्यमानास्तत्राशंकितेन मनसा

श्रद्धया प्रवर्त्तते प्रायो जनाः परंतु कनिष्ठमध्यमोत्तम-धर्मं चरतां तेषां शरीरयत्नार्थव्ययादिपरिश्रमसाम्येपि फले वैषम्यं जायते नहि सुवर्णबुद्ध्या रीतिखंडमुपनिदधानः काले कश्चित्कांचनमूल्यमवाप्नोति तस्माद्धर्म-परीक्षणं समंजसमेव ॥ १८ ॥

इस कारणसे भी धर्मकी परीक्षा करनी आवश्यक है प्रयाससाम्येपि फलवैषम्यात् । धर्मके आचरण करनेमे परिश्रम बरावर होनेपर भी तिसके फलमें न्यूनाधिकता होवे है क्योंकि अपने अपने धर्मको श्रेष्ठ मान करके सर्वलोक शंकाके विना श्रद्धा करके तिसमें प्रवृत्त होते हैं सो कनिष्ठ मध्यम उत्तम धर्मके आचरण करनेमें तिनकों शरीरका प्रयत्न धनका खर्च क्रियाकलापादि परिश्रम बरावर होनेपरभी फलमें न्यूनाधिकभाव होवे है अर्थात् कनिष्ठ धर्म वालेको कनिष्ठ फलकी प्राप्ति होवे है मध्यम-धर्मवालेको मध्यम फलकी प्राप्ति होवे है और उत्तम धर्मवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होवे है सो जैसे पीतलके टुकडेको सुवर्ण समझकर रखछोडनेसे कवी सुवर्णका मूल्य नहि मिलता है तैसे हि कनिष्ठ धर्मवालेको कवी उत्तम फलकी प्राप्ति नहि होवे है यातें धर्मकी परीक्षा करनी युक्त हि है इति ॥ १५ ॥

धर्मपरीक्षणे किं साधनं

वहुशास्त्राभ्यासात् ॥ १६ ॥

धर्मविषयाणि शास्त्राणिवहूनि वहुशोवलोकिता-
नि वुद्धिवर्द्धनेन धर्मवलावलपरीक्षणकौशल्यं जनयंति
यदि तान्येकपक्षमनाश्रित्यैवावलोकितानि भवेयुः स्व-
पक्षाग्रही तु तानि निरीक्ष्यापि न वुद्धिविभ्रमं जहाति
तस्मान्निष्पक्षतया सर्वशास्त्रावलोकनमत्रोपयोगीति
विज्ञेयम् ॥ १६ ॥

प्रश्न. धर्मकी परीक्षा किस उपायसे होसके है। उत्तर,
वहुशास्त्राभ्यासात्। धर्मविपयके वहुतसे ग्रंथ वहुतवार
अवलोकन करनेसे वुद्धिमें विचारशक्तिके वढनेसे धर्मके
वलाबल परीक्षण करनेकी शक्ति हो जावे है परंतु किसी-
एक मतका आग्रह छोडकर ग्रंथोंका अवलोकन करना
चहिये क्योंकि जो पुरुष अपने मतका हि पक्षपाती होवे
है सो वहुतसे ग्रंथोंके विचारनेसे भी वुद्धिके भ्रमसे रहित
नहि होसके है यातें निष्पक्षतासे सर्वग्रंथोंका अवलोकन
करना हि यहां उपयोगी जानना चहिये इति ॥ १६ ॥

तच्छ्रवणात् ॥ १७ ॥

ये तु स्वयमनधीतविद्या वहुशास्त्रावलोकनं कर्तु-

मक्षमास्तैरखिलागमाभिज्ञेभ्यः सदाचारनिष्ठेभ्यः पक्षपातगंधवर्जितेभ्यो विद्वद्वरेभ्यः श्रद्धया बहुशास्त्राणां श्रवणं विधेयं तेनापि धर्मपरीक्षणे निपुणत्वमुपजायत. इति ॥ १७ ॥

तच्छ्रवणात् । और जो पुरुष आप विद्या नहि पढे होनेसे बहुत शास्त्रोंके विचार करनेमें असमर्थ होवें तिनको सर्व शास्त्रोंके जाननेहारे सदाचारमे निष्ठावाले और पक्षपातसे रहित विद्वान् लोकोंके मुखसे श्रद्धापूर्वक बहुत शास्त्रोंका श्रवण करना चहिये तिससे भी धर्मकी परीक्षा करनेमे चतुरता उत्पन्न होजाती है इति ॥ १७ ॥

सदाचाराद्वा ॥ १८ ॥

शास्त्राध्ययनश्रवणयोरुभयोरभावे तु नराणां सदाचार एव परायणं लोके ये केचित् सत्पुरुषा व्यासवसिष्ठजनकयुधिष्ठिरादयोऽभूवन् ये चान्येधुना निर्दंभाः शुद्धचरित्रा धर्मकांक्षिणो विद्वांसो जना जगत्यां वर्तंते तेषां यानि धर्मविषयाण्याचरणानि तान्येव धर्मे प्रमाणभूतानि ज्ञेयानि तथा चोक्तं तैत्तिरीयोपनिषदि 'यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा

धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तैरन् तथा तत्र वर्तैथा इति ॥ १८ ॥

सदाचाराद्वा । और जो पुरुष शास्त्रोंके पढने और श्रवण करणे दोनोंमें असमर्थ होवें तो तिनको फिर सदाचार हि प्रमाण है अर्थात् जगत्में जो व्यास वसिष्ठ जनक युधिष्ठिर आदि धर्मात्मा सत्पुरुष हुये हैं तथा जो इसकालमें दंभ कपटसे रहित शुद्ध चरित्रवाले धर्मात्मा विद्वान् लोक पृथिवीमें वर्तमान हैं तिनके जो धर्मविषयक आचरण हैं सोई धर्मंमे प्रमाणरूप जानने चहिये तथा तैत्तिरीय उपनिषत्में भी लिखा है कि (हे पुरुष जो कवी तुझको कर्मकी बाबत या आचरणकी बाबतमें संशय उत्पन्न होवे तो तिस कालमें तिस देशमें जो ब्राह्मणलोक विचारशील शुभकर्मोंमें लगेहुये शांत चित्तवाले और धर्मकी कामनावाले होवें सो जैसा तहां आचरण करते होवें तैसेहि तुझको भी करना चहिये इति ॥ १८ ॥

बहुशास्त्रावलोकनेन श्रवणेन च बहुषु धर्मेषु रुचिः स्यादिति चेत्

धर्मबहुत्वं नासंभवात् ॥ १९ ॥

सम्यक्परीक्षणानंतरमेकमेव श्रेष्ठतमं धर्ममाश्रयेत् तत्रतत्र किंचिच्छोभनत्वेपि बहवो धर्मा न समाश्र-

यितव्याः । नहि तेषां सर्वेषामेकेन पुरुषेण पूर्णतयानुष्ठानं कर्तुं पार्यते क्षणभंगुरत्वान्मनुष्यकलेवरस्येति १९

शंका । बहुतसे शास्त्रोंके देखने वा श्रवण करनेसे बहुतसे धर्मोंमे पुरुषकी रुचि होजावेगी । समाधान । धर्मबहुत्वं ना संभवात् । सम्यक् प्रकारसे परीक्षाके अनंतर एकहि श्रेष्ठ धर्मका आश्रय करना योग्य है दूसरे धर्मोंमे कुछ कुछ गुण होनेपर भी बहुतसे धर्मोंको ग्रहण नहि करणा चहिये क्योंकि तिन सर्व धर्मोंका एक पुरुष भलीप्रकारसे अनुष्ठान नहि कर सकता है क्योंकि मनुष्यशरीर क्षणभंगुर है इति ॥ १९ ॥

प्रयोजनाभावाच्च ॥ २० ॥

प्रयोजनाभावादपि बहुधर्मावलंबनमयुक्तं नहि पृथङ् नानाविधधर्मानुष्ठानेन किमप्यधिकं प्रयोजनमुपजायते एकोपि किल श्रेष्ठधर्ममार्गः सम्यक्तयानुष्ठीयमानः सर्वधर्मफलान्युपचिनोतीति बोद्धव्यम् ॥ २० ॥

प्रयोजनाभावाच्च । विशेष प्रयोजन नहि होनेसे भी बहुत धर्मोंका अवलंबन करना उचित नहि है क्योंकि नाना-प्रकारके बहुत धर्मोंके अनुष्ठान करनेसे कुछ अधिक प्रयोजन सिद्ध नहि होवे है एकहि श्रेष्ठधर्मके ठीक ठीक

अनुष्ठान करनेसे दूसरे सर्व धर्मोंके फल तिसके अंतर्गत होजाते हैं इति ॥ २० ॥

एकनिष्ठत्वेप्यन्यसारादानम् ॥ २१ ॥

प्रतिष्ठितोप्येकस्मिन् धर्मे धर्मांतरगतानामपि स्वधर्मोपयोगिनामंशानामादानं कुर्यात् परधर्मगतशुभांशानां लक्ष्यमात्रेणैवात्रादानमनुज्ञायते नतु तत्रत्यतत्स्वरूपेणेति विज्ञेयम् ॥ २१ ॥

एकनिष्ठत्वेप्यन्यसारादानम् । एक धर्ममें स्थिर होकरभी विवेकी पुरुषको चहिये कि दूसरे धर्मोंके भी जो अपने उपयोगी अंश होवें तिनका ग्रहण करे परंतु केवल लक्ष्यमात्रसे हि तिनका ग्रहण करना चहिये तहांके स्वरूपसे तिनका ग्रहण नहि करना चहिये इति ॥ २१ ॥

स्वपूर्तावनपेक्षा ॥ २२ ॥

यदि तेषां लक्ष्यतो वा स्वरूपतः समानभूताः स्वधर्मशास्त्रेष्वंशाः परामर्शनादुपलभ्येरन् तदानीमितरधर्मांशग्रहणापेक्षा नास्तीति ॥ २२ ॥

स्वपूर्तावनपेक्षा । यदि दूसरे धर्मोंमें रहेहूये अंशोंके वरावर मिलते जुलते हूये अंश अछीतरे विचारनेसे अ-

पने धर्मशास्त्रोंमें मिलजावें तो फिर दूसरे धर्मोंके अंशोंके ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहि है इति ॥ २२ ॥

किंच

नानादरो लोकविरोधात् ॥ २३ ॥

अपेक्षाभावे परधर्माणां निंदनमपि नोचितं तन्निंदनेन तदनुयायिजनचित्तविक्षेपात्परस्परं विरोधोत्पत्तिरुपजायते सा चोभयपक्षानिष्टकरी भवतीति ॥२३॥

नानादरोलोकविरोधात् । यद्यपि दूसरे धर्मके किसी अंशकी अपेक्षा नहि होवे तोभी उसका खंडन या अनादर नहि करना चहिंये क्योंकि दूसरे धर्मोंकी निंदा करनेसे तिनके अनुयायी लोकोंके चित्तमें विक्षेप होनेसे परस्पर विरोध और ग्लानिकी उत्पत्ति होवे है और तिससें फिर दोनों पक्षोंकी हानि होवे है इति ॥ २३ ॥

क्षुद्रपरधर्मनिंदनाभावे भवेल्लोकस्य कदाचित्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत्

स्वधर्मगुणदर्शनादेव तत्सिद्धेः ॥ २४ ॥

धर्मसमाजेषु व्याख्यानेषु पुस्तकेषु च स्वधर्मस्योत्तमगुणप्रदर्शनेनैव निकृष्टस्य परधर्मस्यार्थान्निंदनं जाजते ततो न लोकस्य तत्र प्रवृत्तिर्भवति नहि सुवर्ण-

गुणाभिज्ञानां रीतिशकलानि मनांसि रंजयंति स्व-समाजे तु परधर्मगुणदोषविचारणं न विरुद्धमिति बोद्धव्यम् ॥ २४ ॥

शंका। यदि दूसरे क्षुद्र धर्मोंकी निंदा नहि की जावेगी तो उनमें कदाचित् लोकोंकी प्रवृत्ति होजावेगी । समाधान। स्वधर्मगुणदर्शनादेव तत्सिद्धेः। धर्मसमाजोंमें व्याख्यानों तथा पुस्तकोंमें अपने धर्मके श्रेष्ठत्व वर्णन करनेसे हि दूसरे क्षुद्र धर्मोंका हलकापणा सिद्ध होजावे है तो फिर विवेकी पुरुषोंकी उनमें प्रवृत्ति नहि होसके है क्योंकि जो पुरुष सुवर्णके गुणोंको जान लेते हैं तो फिर पीतलके टुकडे तिनके मनको रंजन नहि कर सकते हैं परंतु गुप्तरीतिसें अपने समाजमे दूसरे धर्मोंके गुणदोषविचार करणेमें कुछ दोष नहि है इति ॥ २४ ॥

किंच

आचारविरोधो न धर्माभावः ॥ २५ ॥

लोके बहुषु परस्परभिन्नेषु संप्रदायेषु तत्रतत्राचारस्यैव प्रायः परस्परं विरोधोवगम्यते तेषु धर्मो नास्तीति न मंतव्यमतो न तेषां सर्वथा निंदनीयत्वम् ॥ २५ ॥

आचारविरोधो न धर्माभावः । जगत्में परस्पर भिन्न नानाप्रकारकी संप्रदायोंमें प्रायः आचारका हि परस्पर विरोध प्रतीत होवे है तिनमें धर्म नहि है यह नहि समझना चहिये अर्थात् नास्तिकमतको छोडकर सर्व संप्रदायोंमें कहीं थोडा कहीं बहुत, धर्म देखनेमें आता है यातें भी सर्व दूसरे धर्म सर्वथा निंदा करने योग्य नहि हैं इति ॥ २५ ॥

सर्वत्र तद्दर्शनात् ॥ २६ ॥

दृश्यते हि सर्वत्र क्वचित्केन क्वचित्केन रूपेणानुष्ठीयमानो धर्मः सत्यभाषणजितेन्द्रियत्वादिरूपश्चासौ सर्वैरेवोररीक्रियते तस्मादाचारेष्वेव प्रायो विरुद्धत्वमस्तीत्यवसेयम् ॥ २६ ॥

सर्वत्र तद्दर्शनात् । किसी संप्रदायमें किसी रूपसे और किसीमें किसी रूपसे धर्मका आचरण देखनेमें आता है और सत्यभाषण करना जितेन्द्रिय रहना ईश्वरका आराधन करना इत्यादिरूप धर्म तो सब संप्रदायवाले अंगीकार करते हैं यातें संप्रदायोंमें प्रायः आचारका हि परस्पर भेद है धर्मका नहि इति ॥ २६ ॥

न्यूनाधिकत्वं तु मतिभेदात् ॥ २७ ॥

यत्त्विदं संप्रदायेषु मतेषु च निखिलेषु धर्मस्य तारतम्यं धर्मरहस्याभिज्ञैर्विद्वद्भिरवलोक्यते तत्राचार्याणां तदनुयायिनां च मतिभेद एव कारणं यस्य धर्माचार्यस्य यादृशी स्थूला सूक्ष्मा वा बुद्धिरभूत् तेन तादृशमेव मतं प्रचारितं ततो न समानः सर्वत्र धर्मलाभ इति ॥ २७ ॥

न्यूनाधिकत्वं तु मतिभेदात्। और जो संप्रदायोंमें सर्व मतोंमें धर्मका न्यूनाधिक भाव धर्मके रहस्य जाननेहारे विद्वानोंको प्रतीत होवे है सो तो तिन संप्रदायोंके आचार्य और तिनके शिष्योंकी बुद्धिके भेदसे हूया है अर्थात् जिस आचार्यकी स्थूल वा सूक्ष्म जैसी बुद्धि थी उसने उसी प्रकारका मतप्रचार कर दिया यातें सर्व संप्रदायोंमें धर्मका लाभ बराबर नहि समझना चहिये इति ॥ २७ ॥

क्वचिद्वैपरीत्यं चास्मात् ॥ २८ ॥

अस्मादुक्तादाचार्यमतिभेदादेव क्वचित् विपरीतत्वमपि जातं तेन केचिदधर्ममपि धर्मत्वेन मन्यमानास्तदनुयायिनस्तत्र प्रवृत्ता इति ॥ २८ ॥

क्वचिद्वैपरीत्यं चास्मात् । तथा कोई आचार्योंकी स्थूल बुद्धिके कारणसे हि किसी जगा धर्मका विपरीतपणा भी हो गया है अर्थात् उनके अनुयायी लोक अधर्मको भी धर्म मानकरके उसमें प्रवृत्त होते भये हैं इति ॥ २८ ॥

विरोधस्तु नास्तिकमते ॥ २९ ॥

कस्यचिदाचार्यस्य मते धर्मस्य न्यूनत्वं कस्यचिदधिकत्वं कस्यचित्क्वचिदंशे विपरीतत्वं सर्वेप्येते स्वस्वमतानुसारेण धर्मलाभयुक्ताः संतीति विज्ञेयं नास्ति परो लोको न पुनर्जननं न दानादिकर्मणां फलं नचापीश्वरो विश्वकर्त्ता कश्चिदस्तीत्येवंवादिनो नास्तिकस्य मते तु धर्मविरोध एव न तत्र धर्मलाभस्य संभावना विद्यते प्रत्युतेश्वरभीत्यभावादधर्मसंचय एव सभाव्यत इति ॥ २९ ॥

विरोधस्तु नास्तिकमते । किसीके मतमें धर्मकी न्यूनता है किसीके मतमें अधिकता है किसीके मतमें किसी अंशसे विपरीतता है परंतु यह सर्व लोक अपने अपने मतके अनुसार धर्मलाभ करके युक्त होते हैं परंतु जो कहते हैं परलोक नहि है पुनर्जन्म भी नहि है व्रत दान आदि कर्मोंका कुछ फल नहि होवे है और न कोई जगत्कर्ता

ईश्वर है इसप्रकारके नास्तिक मतको तो धर्मके विरुद्ध
हि जानना चहिये क्योंकि उसमें कुछभी धर्मलाभकी
आशा नहि होवे है किंतु उलटा ईश्वरका भय नहि हो-
नेसे केवल अधर्मका हि संचय होवे है इति ॥ २९ ॥

तस्मात्कारणात्

तद्बहिष्करणं सर्वत्र ॥ ३० ॥

तस्य नास्तिकमतप्रतिपादकस्य शास्त्रस्य तदनुया-
यिजनसमुदायस्य च सर्वैरेव धर्मलाभकांक्षिभिः स्व-
स्वसमाजाद्बहिष्करणं विधेयं तत्संसर्गस्य मुमुक्षु-
जनमतिविभ्रमजनकत्वेन हानिकरत्वात् तदुक्तं भारते
शांतिपर्वणि 'असतां दर्शनात्स्पर्शात्संजल्पाच्च सहा-
सनात् । धर्माचाराः प्रहीयंते सिद्ध्यंति नैव मानवा'
इति ॥ ३० ॥

तद्बहिष्करणं सर्वत्र । तिस नास्तिकमतके प्रतिपादक
ग्रंथोंका और तिनके अनुयायी लोकोंका धर्मलाभकी
इच्छावाले सर्व विवेकी पुरुषोंको अपने समाजसे बहि-
ष्कार कर देना चहिये क्योंकि तिनके संगसे दूसरे मुमुक्षु
पुरुषोंकी बुद्धिमें विभ्रम होनेसे धर्मकी हानि होवे है
तथा महाभारतके शांतिपर्वमें लिखा है कि । (असत्

पुरुषोंके साथ दर्शन स्पर्शन भाषण और सहवास कर-
नेसे धर्माचारोंकी हानि होवे है तथा कबी शुभ कर्मोंकी
सिद्धि नहि होवे है) इति ॥ ३० ॥

कुलाचारेष्वपि केषांचिदल्पज्ञानां धर्मबुद्धिरस्ती-
त्यतो धर्माचारयोर्विलक्षणत्वं दर्शयति ।

धर्माचारयोर्नैकत्वम् ॥ ३१ ॥

शास्त्रविहितानां धर्माणां परंपरागतानां नवीनानां
चानुप्रविष्टानां कुलाचाराणां च नैकत्वं ज्ञातव्यं नहि
सर्वेपि कुलाचारा धर्मकृत्यानि भवितुमर्हतीत्यतो न
सर्वत्र कुलाचारेषु धर्मबुद्धिराश्रयणीया ॥ ३१ ॥

अपने कुलाचारोंकोभी बहुतसे स्थूलबुद्धिवाले पुरुष
धर्म मानते हैं यातें धर्म और आचारोंमें विलक्ष-
णता दिखलाते हैं। धर्माचारयोर्नैकत्वम् । शास्त्रविहि-
तधर्मोंको और वंशपरंपरासे आयेहूये और पीछेसे नवीन
प्रवेश हुये कुलाचारोंको एकहि नहि समझना चहिये
क्योंकि सबी कुलके आचारधर्मरूप नहि हो सकते हैं
यातें सब जगा कुलाचारोंमें धर्मबुद्धि नहि करनी चहि-
ये इति ॥ ३१ ॥

पृथगभिधानात् ॥ ३२ ॥

मन्वादिभिर्धर्मशास्त्रकारैराहारशयनस्नानविवाहा-द्याचाराणां यज्ञतपोव्रतदानादिधर्माणां च पृथक्त्वे-नैव निरूपणं कृतं ततो न धर्माचारयोरेकत्वं मंत-व्यम् ॥ ३२ ॥

प्रश्न. कुलाचारोंको धर्मरूप क्यों नहि जानना चहि-ये । उत्तर, पृथगभिधानात् । मनुयाज्ञवल्क्यआदि धर्म-शास्त्रकारोंने खान पान शयन विवाह आदि कुलाचा-रोंका तथा यज्ञ तप दान व्रत आदि धर्मकार्योंका भिन्न-भिन्न निरूपण किया हैं यातें आचार और धर्मको एक-रूप नहि जानना चहिये इति ॥ ३२ ॥

व्यभिचारदर्शनाच्च ॥ ३३ ॥

साधारणतया धर्मस्य सर्वत्रानुस्यूतत्वेपि देशां-तरेषु कुलांतरेषु चाचाराणां प्रायेण व्यभिचारो दृश्यते तस्मात् धर्मस्यैकत्वेप्याचारभेददर्शनान्नाचाराणां धर्म-त्वं भवितुमर्हतीति ॥ ३३ ॥

व्यभिचारदर्शनाच्च । साधारणरूपसे धर्मको सब जगा व्यापक होनेपर भी देशांतरोंमें और कुलांतरोंमें आचा-रोंका प्रायः परस्पर भेद देखनेमें आवे है यातें सब

जगा धर्मके एकरूप होनेपरभी कुलाचारोंमें भेद होनेसे आचारोंको धर्मरूपता नहि संभवे है इति ॥ ३३ ॥

कथं तर्हि कुलाचारेषु धर्माभिमानो लोकस्य

तत्र धर्मबुद्धिरविवेकात् ॥ ३४ ॥

प्रायेणाविवेकिनो जनाः कुलाचारानुद्दिश्यायमस्माकं धर्मोयमस्माकं धर्म इति वदंति कुलाचारान् शास्त्रीयधर्मांश्चैकीकृत्य धर्मत्वेनोररीकुर्वंति तत्राविवेक एव कारणं विवेके क्रियमाणे तु तयोर्धर्माचारयोः स्फुटमेव पृथक्त्वमवसीयत इति ॥ ३४ ॥

प्रश्न. तो फिर कुलाचारोंको लोक धर्म क्यों मानते हैं। उत्तर. तत्र धर्मबुद्धिरविवेकात्। अकसर शास्त्रबोधसे रहित संसारी लोक कुलाचारोंको लेकरके यह हमारा धर्म है यह हमारा धर्म है ऐसे कहते हैं अर्थात् कुलके आचारोंको शास्त्रोक्त धर्मोंके साथ सबको धर्मरूप समझके ग्रहण करते हैं सो इस वार्तामें केवल अविवेक हि कारण है क्योंकि विवेक करके देखनेसे तो कुलाचार और धर्म स्पष्ट जुदा जुदा प्रतीत होते हैं इति ॥ ३४ ॥

कथं तर्हि शास्त्रेषु कुलाचारानपि मुनयो धर्मत्वेन जगुः

धर्मत्वाभिधानं तूपयोगित्वात् ॥ ३५ ॥

यदिदं कुलाचाराणामपि शास्त्रेषु धर्मशब्दैरुपपादनं कृतं यच्च तेषां धर्मपुस्तकेषु शास्त्रीयधर्मैः समं निवेशनं विद्यते तत्तूपयोगित्वादेव बोद्धव्यं भवंति हि धर्माचरणे बाह्याचारा अपि तदुपयोगिनः । नहि हीनाचारः श्रेष्ठं धर्मं संपादयितुमर्हति 'आचारहीनं न पुनंति वेदा' इति वचनात् ततः साक्षात्परंपरया वा धर्मसंपादनोपयोगित्वादाचारेषु धर्मशब्दप्रयोगो वेदितव्य इति ॥ ३५ ॥

प्रश्न. तो फिर धर्मशास्त्रोंमें कुलाचारोंकोभी धर्मपणा ऋषिलोकोंने क्यों कथन किया है। उत्तर, धर्मत्वाभिधानं तूपयोगित्वात्। ऋषिलोकोंने जो कुलाचारोंको भी कहीं धर्मशब्दसे कथन किया है और जो कहीं धर्मपुस्तकोंमें कुलाचारोंका शास्त्रीय धर्मोंके साथ निवेशन किया है सो तो केवल उपयोगी होनेसे जानना क्योंकि धर्मके आचरण करनेमें बाहिरके खान पान आदि आचारभी सहकारी होते हैं पवित्र आचारपालनके विना कोई पुरुष श्रेष्ठ धर्मका संपादन नहि कर सकता है तथा धर्मशास्त्रका वचन है कि (आचारसे हीन पुरुषको चारों

वेदभी पवित्र नहि कर सकते इति) यातें साक्षात् अथवा परंपरासे धर्मसंपादनके उपयोगी होनेसे शास्त्रोंमें आचारोंको धर्मशब्दसे कथन किया है ऐसा जानना चहिये इति ॥ ३५ ॥

एवं धर्माचारयोः पृथक्त्वमभिधायाधुना तत्प्रयोजनमाह ।

तत्सेवनमुभयाविरोधेन ॥ ३६ ॥

तेषां कुलाचाराणां लोकाचाराणां च स्वधर्मस्याविरोधेन शरीरनिर्वाहादिव्यवहारस्याविरोधेन च सेवनं कार्य येनाचारेण धर्मस्य व्यवहारस्य चोभयोरेव रक्षणं भवेत् तस्यैव भव्यजनैराचारस्याचरणं विधेयम् ॥३६॥

इस प्रकार धर्म और आचारका भेद निरूपण करके अब तिसका प्रयोजन कथन करते हैं ।

तत्सेवनमुभयाविरोधेन । तिन कुलाचारोंका अपने धर्मके और अपने शरीरनिर्वाह आदि व्यवहारके अनुकूल हि सेवन करना चहिये अर्थात् जिस आचारसे धर्म और व्यवहार दोनोंकी रक्षा होवे तिस हि आचारका श्रेष्ठ पुरुषोंको सेवन करना योग्य है इति ॥ ३६ ॥

हानौ तु परिशोधनम् ॥ ३७ ॥

येन कुलाचारेण लोकाचारेण वा धर्मस्य हानि-र्व्यवहारहानिश्च स्यात् स्वकुलवृद्धैर्विद्वद्भिश्च समं चिरं विमृश्य तस्य हानिकरस्याचारांशस्य परित्यागो वि-धेयः सर्वैरेवैकमत्यं कृत्वा स्वसमाजात्स दुष्टाचारो नि-रसनीयः। नहि सर्वे कुलाचारा लोकाचाराश्च सर्वका-लेषूपयोगित्वं भजंते केचिदाचाराः पूर्वमुपयोगिनो भूत्वापि कालांतरे निरुपयोगिनो दुरुपयोगिनो वा जायंते केचित् निरुपयोगिनोपि कालांतरे परमोपयो-गित्वमाश्रयंते ततस्तेषां परिशोधनं समंजसमेव ॥३७॥

हानौ तु परिशोधनम् । जिस कुलाचारसे अथवा लोकाचारसे धर्मकी वा व्यवहारकी हानि होवे तिस कु-लाचारका अपने कुलवृद्धोंसे और अपने देशके विद्वा-नोंसे चिरकाल भली प्रकार विचार करके परित्याग कर देना चहिये सब कुलके लोकोंको एकमताकरके तिस हानि करनेहारे कुलाचारको अपने समाजसे निकाल देना चहिये क्योंकि सवी कुलाचार या लोकाचार सर्व-दाकाल उपयोगी नहि होते हैं कोई कुलाचार पहले उप-योगी होनेपर भी फिर कालांतरमें या देशांतरमें निरुप-

योगी अथवा दुरुपयोगी हो जाते हैं और कोई पहले निरुपयोगी हूये भी कालांतरमें वडे उपयोगी होजाते हैं यातें दुष्टकुलाचारोंका शोधन करना उचित है इति ॥२७॥

नाग्रहोऽनिष्टकारित्वात् ॥ ३८ ॥

अयमाचारोस्माकं वृद्धपरंपरागतः धर्मगुरुभिश्चोपदिष्टः धर्मपुस्तकेषु चोपनिविष्टः कथमस्माभिस्त्यक्तुं शक्यत इत्याग्रहो न करणीयः 'तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबंतीति' न्यायेनाग्रहस्यानिष्टकारित्वात् नहि दुराचारपालने हठं कुर्वाणाः केचित् कदाचिदात्मोन्नतिं लभंत इति ॥ ३८ ॥

नाग्रहोऽनिष्टकारित्वात् । यह आचार हमारे वंशपरंपरासे चला आता है और हमारे धर्माचार्योंने उपदेश किया हुया है तथा हमारे धर्मपुस्तकोंमें लिखा हुया है सो हम इसको कैसे छोड सकते हैं ऐसा मूर्खतासे हठ नहि करना चहिये क्योंकि यह हमारे बापका कूया है इसका खारापानी है तो भी हम इसीका पानी पीवेंगे दूसरेका नहि पीवेंगे इस प्रकारका हठ करके दुष्टाचारके परित्याग नहि करनेसे हानि होवे है क्योंकि दुष्टाचारको हठकरके पालन करनेसे किसी पुरुषकी कवीभी उन्नति नहि होवे है इति ॥ ३८ ॥

किंच.

न प्रमाणापेक्षा प्रत्यक्षविरोधात् ॥ ३९ ॥

निश्चितहानिकरकुलाचारपरित्यागे नागमादिप्रमाणान्वेषणं कार्यं कुतः प्रत्यक्षविरोधात् प्रत्यक्षं विरोधे प्रमाणांतरपेक्षा न युक्ता भवति प्रत्यक्षागोचरे हि किल प्रमाणांतराण्युपयोगीनि भवंतीति विज्ञेयम् ॥ ३९ ॥

न प्रमाणापेक्षा प्रत्यक्षविरोधात् । प्रसिद्ध हानि करनेवाले कुलाचारके परित्याग करनेमें किसी दूसरे शास्त्रके प्रमाण ढुंडनेकी आवश्यकता नहि है क्योंकि जव प्रत्यक्ष हि हानि दीखती होवे तो उसमें फिर दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा करनी ठीक नहि होती क्योंकि जहां प्रत्यक्ष प्रमाणसे वस्तु की सिद्धि नहि हो सके है तो तहांहि दूसरे प्रमाणोंकी आवश्यकता होती है इति ॥ ३९ ॥

इतश्च न प्रमाणांतरापेक्षा ।

तदनुयायित्वाच्चागमादीनाम् ॥ ४० ॥

सर्वाण्यप्यागमादीन्यन्यानि प्रमाणानि प्रत्यक्षमेवानुवर्त्तंते प्रत्यक्षमूलकमेव हि किलागमनिर्माणमनुमाननिरूपणं चेत्यतः प्रत्यक्षं हानिकरस्य कुलाचारस्य

योगी-चारस्य समाजनियमस्य वावश्यमेवाशंकितेन मनसा निरसनं कर्त्तव्यं नहि वह्निना प्रदीप्ते भवने तच्छांत्युपायादृते कश्चिदागमविचारो युक्तस्तद्वदेव प्रत्यक्षहानिकरकुलाचारनिरसने न धर्मशास्त्रनिरीक्षण-मुपयुक्तं भवतीति ॥ ४० ॥

इससेभी दुसरे प्रमाणोंकी आवश्यकता नहि है । तदनुयायित्वाच्चागमादीनाम् । शास्त्रादि दूसरे सवी प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाणके पीछे हि चलते हैं क्योंकि शा-स्त्रका निर्माण और अनुमानका निरूपण करना यह दोनोंका जड मूल प्रत्यक्षहि है कोई वस्तु प्रत्यक्ष अनुभ-वकरकेहि शास्त्रमें लिखी जाती है और उसीका अनुमान भी किया जाता है इसलिये जिस कुलाचार वा लोका-चार वा सामाजिक नियमसे व्यवहारमें प्रत्यक्ष हानि होती होवे तो उसका विना किसी प्रकारकी शंकाके परि-त्याग कर देना उचित है क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष अग्निसे जलते हूये घरके लिये अग्निबुझानेके उपायके सिवाय दूसरा कोई शास्त्रका विचार करना उपयोगी नहि होवे है तैसेहि प्रत्यक्ष हानि करनेवाले कुलाचारके परित्याग करनेमें भी किसी धर्मशास्त्रके देखनेकी आवश्यकता नहि है इति ॥ ४० ॥

न दोषापत्तिर्बलवदाश्रयणात् ॥ ४१ ॥

धर्मशास्त्राज्ञातिक्रमे दोषो भविष्यतीति नैवमआशंकनीयं कुतः बलवदाश्रयणात् हीनाचारं त्यजन्नुत्तमाचारं चांगीकुर्वन्नायं नरो दोषवान् जायते नहि कश्चिन्निर्बलपक्षं विहाय बलवंतमुपाश्रयन्निंदितो वंचितो वा भवति ततो यत्र धर्माधिक्यं व्यवहारस्य चाहानिः स एवाचारः सद्भिरुपनिषेवणीय इति ॥४१॥

न दोषापत्तिर्बलवदाश्रयणात् । धर्मशास्त्रकी आज्ञा लंघन करनेसे दोषकी प्राप्ति होवेगी ऐसी इस जगामे शंका नहि करनी चाहिये क्योंकि बलवान् पक्षका आश्रय लेनेसे दोष नहि होवे है दुष्टाचारका परित्याग करके उत्तमाचारको अंगीकार करनेसे यह पुरुष दोषवान् नहि होवे है क्योंकि निर्बल पक्षको छोडकर बलवान् पक्षको आश्रय करनेसे कोई पुरुषभी निंदित वा वंचित नहि होवे है यातें जिसमें धर्मकी अधिकता होवे और व्यवहारकी भी हानि नहि होवे उसी आचारका सत् पुरुषोंको सेवन करना योग्य है इति ॥ ४१ ॥

इतश्च नदोषापत्तिः शंकनीया

व्यवहारशुद्ध्यर्थत्वाच्च शास्त्रस्य ॥ ४२ ॥

वेदस्मृतिपुराणादिसर्वशास्त्रेषु खलु भागद्वयमस्ति धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं च तत्र यानि लोकव्यवहारनिरूपकाणि वाक्यानि संति तानि सर्वाणि किलार्थशास्त्रमित्युच्यते यानि च केवलं धर्मविषयप्रतिपादकानि तान्यखिलानि धर्मशास्त्रमित्यभिधीयते तत्र विद्याध्ययनसत्यभाषणेन्द्रियसंयमपरोपकारशौचसंतोषतपश्चरणेश्वराराधनादिविषयस्य धर्मशास्त्रस्य न क्वचिद्देशकालयोर्विरोधो जायते गर्भाधानजननामकरणमुंडनयज्ञोपवीतविवाहभोजनशयनमैथुनद्रव्योपार्जनर्णदानग्रहणादिविषयस्यार्थशास्त्रस्य तु भवतिक्वचिद्देशे काले च विपरीतत्वमपि तत्र धर्मशास्त्रस्य विपरीतत्वे तु दोषापत्तिः स्यादेव परंत्वर्थशास्त्रस्य स्वदेशकालानुसारेणपरिशोधनं व्यत्ययकरणं वा न दोषावहं भवति कुतः सर्वस्यापि शास्त्रस्य व्यवहारशुद्ध्यर्थत्वात् लोकव्यवहारानुकूलतार्थमेवाखिलानि धर्मशास्त्राणि पुरा महर्षिभिर्निर्मितानीति बोद्धव्यं यथा सर्वेपि लोकाः परस्परमबाध्यमानाः स्वस्वकार्येषु प्रवृत्ताः सुखेनजीवितंनयेयुरित्यतो यत्र यदा शास्त्रस्य क्वचिल्लोकव्यवहारप्रतिकूलत्वं दृश्येत तदा तस्य निश्चितलोकव्यवहारहानिकरस्यविरुद्धांशस्यावश्यंपरिशोधनं करणीयं

लोकव्यवहारहानिकरस्य शास्त्रनिर्देशस्यांगीकारे तु प्रत्युत दोषापत्तिरेव जायते तद्यथा सत्यभाषणेन यदि लोके कस्यचित्प्राणहानिर्जायेत न तत्सत्यं तदनृतमेव भवति न तेन वक्तुः सुकृतं भवत्यपितु पापमेव भवतीत्येवमन्यत्रापि सर्वत्र योजनीयं तस्माद्दुष्टाचारनिरसने न काचिद्दोषापत्तिर्भवतीति विज्ञेयम् ॥ ४२ ॥

इससेभी दोषप्राप्तिकी शंका नहि करनी चहिये । व्यवहारशुद्ध्यर्थत्वाच्च शास्त्रस्य । वेद स्मृति पुराण आदि सर्वशास्त्रोंमें केवल दो भाग हैं एक तो धर्मशास्त्र और दूसरा अर्थ शास्त्र है तिनमें जितने लोकव्यवहारके निरूपण करनेहारे वचन हैं सो सब अर्थ शास्त्र कहिये है तथा जो केवल धर्मविषयके प्रतिपादन करनेहारे वचन हैं सो सब धर्मशास्त्र कहिये है तिनमें विद्यापठन सत्यभाषण इन्द्रियोंका संयम परोपकार पवित्रता संतोष तपश्चरण ईश्वरका आराधन इत्यादि विषयका प्रतिपादक जो धर्मशास्त्र है तिसका तो किसी देश या किसी कालमें कबी विरोध नहि होवे है और गर्भाधान जन्म नामकरण मुंडन यज्ञोपवीत विवाह भोजन शयन मैथुन धनका उपार्जन ऋणका लेनदेन इत्यादि विषयका प्रतिपादक जो अर्थशास्त्र है तिसका कबी किसी देश या कालमें

विपरीतपणाभी होजावे है सो तिनमें धर्मशास्त्रके विप-
रीत करनेमें तो दोषकी प्राप्ति होवे है परंतु अर्थशास्त्रके
तो अपने देशकालके अनुसार परिशोधन या विपरीत
करनेमें कुछ दोषकी प्राप्ति नहि होवे है क्योंकि जितने
धर्मशास्त्र हैं सो सवी लोकव्यवहारकी अनुकूलताके लिये
हि पहलेके महर्षि लोकोंने निर्माण किये हैं जिससे कि
सर्व लोक आपुसमें एक दूसरेको दुःख नहि देते हूये
अपने अपने कामोंमें प्रवृत्त हूये संसारमें सुखसे अपना
जीवन व्यतीत करें इसलिये जव जिस देश या कालमें
शास्त्रकी वात लोकव्यवहारके प्रतिकूल देखनेमें आवे तो
उस कालमें तिस निश्चय करके लोकव्यवहारमें हानि
करनेहारे शास्त्रके अंशका अवश्य परिशोधन या त्याग
कर देना उचित है क्योंकि लोकव्यवहारकी हानि करने-
हारे शास्त्रके वचनको माननेसे तो उलटी दोषकीहि प्राप्ति
होवे है जैसे कि सत्यभाषण करनेसे जो लोकोंमें किसी
जीवकी प्राण हानि होजावे तो सो सत्य नहि होता किंतु
सो झूठके समानहि होवे है तिसके वोलनेवालेको कुछ
पुण्य नहि होता किंतु उलटा पापहि होता है इसी प्रकार
दूसरी सव जगा शास्त्रविषयमें समझलेना चहिये यातें
दुष्टाचारके परित्याग करनेमें किसी प्रकारकी दोषकी

प्राप्ति नहि होवे है ऐसा जानना चहिये इति ॥ ४२ ॥

यद्येकेनाचारेण धर्महानिरितरेण धर्मलाभेपि व्यवहारहानिस्तत्र तयोः कस्याश्रयणं वरमित्यत्रपरामर्शं दर्शयति ।

धर्मः प्रधान इत्येके ॥ ४३ ॥

केचिन्मुनयो धर्मएव व्यवहारात् मुख्योस्तीत्यब्रुवन् व्यवहारहानावपि धर्मो रक्षणीय इति तेषामभिमतम् ॥ ४३ ॥

प्रश्न. जहां एक आचारसे धर्मकी हानि होवे और दूसरेमें धर्मके लाभ होनेपरभी व्यवहारकी हानि होवे तो फिर तहां किसका आश्रय करना उचित है इस वातमें निर्णय दिखलाते हैं। धर्मः प्रधान इत्येके। केई एक ऋषिलोक धर्मकोहि व्यवहारसे उत्कृष्ट कहते भये हैं अर्थात् व्यवहारकी हानि होनेपर भी धर्मकी रक्षा करनी चहिये यह तिनका अभिप्राय है इति ॥ ४३ ॥

कस्मादेतत्

व्यवहारसिद्धेस्तन्मूलकत्वात् ॥ ४४ ॥

विगतरोगं वपुः पुष्कलं धनं मनोभिरामा योषितः सुखप्रदा संततिरित्यादि व्यवहारसिद्धिर्धर्ममूलैव

पूर्वार्जितधर्मसहायेनैवहि नृणामखिलव्यवहारानिर्विघ्नं सहसा सिद्ध्यंति नह्यकृतधर्मसंचयैर्दुष्कृतिभिर्नरैरत्र व्यवहारसुखान्यनुभूयंते तस्मात्सर्वथा धर्मएव रक्षणीय इति ॥ ४४ ॥

प्रश्न. ऐसा क्यों करना चहिये । उत्तर, (व्यवहारसिद्धेस्तन्मूलकत्वात्) निरोग शरीर होना पुष्कल धन होना सुंदर स्त्रियां होंनी सुखदायी संतान होंनी राज्यसन्मान होना इत्यादि व्यवहारकी सर्व सिद्धि धर्मके प्रभावसे हि होवे है क्योंकि पूर्वके संचय किये हूये धर्मकी सहायतासे हि पुरुषोंके सर्व व्यवहार शीघ्र निर्विघ्नसिद्ध होते हैं और जिन पुरुषोंका पूर्वजन्मका धर्म संचय नहि होवे है तिन पापी पुरुषोंको यहां व्यवहारके सुखोंकी प्राप्ति नहि होवे है यातें सर्व प्रकारसे धर्मकी हि रक्षा करनी चहिये इति ॥ ४४ ॥

मतांतरमाह

व्यवहार इत्यन्ये ॥ ४५ ॥

प्रधान इत्यत्रानुकृष्यते अन्ये तु केचिद्विद्वांसः धर्मात् व्यवहारस्यैव श्रेष्ठत्वमाहुः शरीरपोषणादिव्य-

वहारानुकूलत्वेनैवधर्मस्याचरणं कार्यं धर्महानावपि व्यवहारः साधनीय इत्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥

अब दूसरा मत कहते हैं (व्यवहार इत्यन्ये)। दूसरे कोई विद्वान् लोक धर्मकी अपेक्षासे व्यवहारको हि श्रेष्ठ कहते भये हैं शरीर पोषण आदि व्यवहारकी अनुकूलतासे हि धर्मका सेवन करना चहिये अर्थात् धर्मकी हानि होनेपरभी व्यवहारका साधन करना चहिये यह तिनका अभिप्राय है इति ॥ ४५ ॥

कुत एतत्

तद्धीनत्वाद्धर्मस्य ॥ ४६ ॥

स्वातंत्र्यं सम्यगवकाशो विद्याध्ययनं पुस्तकसंचयः धर्मस्थाननिर्माणं धर्मगुरूणां सेवा तीर्थाभिगमनं सुपात्रदानं दीनार्त्तजनपरिपालनमित्यादीनि सर्वाण्यपि धर्मकार्याणि व्यवहारसिद्ध्यधीनानि धनादिव्यवहारानुकूलत्वे सत्येवैतानि कार्याणि सुकराणि भवंति स्वोदरपूर्णेप्यशक्तानामन्नकणोपार्जननीतवासराणांतु नराणां दुर्लभो धर्मचर्चाश्रवणावकाशोपि किमुत तदनुष्ठानमित्यतो व्यवहारस्यैव सर्वथा रक्षणं विधेयम् ॥४६॥

प्रश्न. ऐसा क्यों करना चहिये। उत्तर, (तदधीनत्वा-

द्धर्मस्य) सर्वप्रकारसे स्वतंत्रता होनी ठीक अवकाश मिलना विद्याका अध्ययन करना पुस्तकोंका संचय करना धर्मशाला मंदिर आदिकोंका निर्माण करना धर्मगुरुवोंकी सेवा करनी तीर्थयात्रा करनी सुपात्रोंमें दान देना दीन दुखी जीवोंकी पालना करनी इत्यादि सब्बी धर्मके काम व्यवहारकी सिद्धिके अधीन होते हैं अर्थात् धन आदिकी अनुकूलता होनेसे हि यह काम सहजमें होसकते हैं क्यों कि जो पुरुष अपने पेट भरनेके निमित अन्नके उपार्जन करनेमेंहि सारादिन व्यतीत करते हैं तो धर्मका अनुष्ठान कैसे ठीक हो सकता है यातें पुरुषको सर्वथा व्यवहारकी हि रक्षा करनी चहिये इति ॥ ४६ ॥

इति मुनिमतविकल्पं निरूपयित्वेदानीं ग्रंथकारः स्वकीयं मतं दर्शयति

यथाधिकारमुभयं सामञ्जस्यात् ॥ ४७ ॥

अधिकारेणात्र व्यवस्था ज्ञेया नहि सर्वत्र धर्मरक्षैव श्रेयस्करी जायते न चापि सर्वत्र व्यवहारसिद्धिरेव धर्मसंचयकारणतामुपैति यथा राज्यादिपदारूढानां बहुकार्यव्यवस्थाधिकारिणाममात्यादीनां जनानां सर्वथा धर्मपरायणत्वे व्यवहारवैकल्यात् परिणामे धर्म-

स्यापि हानिर्जायते त्यक्तसंसाराणां विरक्तानां योगि-
नां केवलमीश्वराराधनात्मकधर्माधिकारिणांच बहुलौ-
किकव्यवहारसाधनपरत्वे स्वधर्महानौ परिणामे परलौ-
कजयादि व्यवहारस्याप्यसिद्धिरुपजायते तस्मात् स्वा-
धिकारानुसारेण क्वचित् धर्मस्य रक्षणं वरं क्वचिच्च व्य-
वहारस्येति विज्ञेयम् ॥ ४७ ॥

इस प्रकारसे ऋषियोंका मतभेद निरूपण करके अब ग्रंथकार अपना मत दिखलावे हैं (यथाधिकारमुभयं सामंजस्यात् । धर्म मुख्य है किंवा व्यवहार मुख्य है इस जगा अधिकारके अनुसार व्यवस्था जाननी चहिये क्योंकि सबी जगामें केवलधर्मकी रक्षाभी कल्याणकारी नहि होती है और न सबी जगा व्यवहारकी सिद्धिहि धर्मके संचय करनेमें कारण होवे है जैसे कि राज्यादि पदोंपर नियुक्त बहुत कार्योंकी व्यवस्था करनेवाले जो दीवान मुत्सदी आदि लोक हैं सो सर्वथा धर्मपरायण होजावें तो प्रजामें साम दान भेद दंड आदि व्यवहार व्यवस्थाकी विकलता होनेसे परिणाममें तिनके धर्मकीभी हानि होजावे है यातें उनका सर्वथा धर्मपरायण होना अनुकूल नहि होवे है तथा सर्व संसार व्यवहारोंका त्याग

करके केवल ईश्वराराधन करनेके अधिकारी जो विरक्त योगी लोक हैं सो सर्वथा लौकिक व्यापारोंके परायण होजावें तो स्वधर्मकी हानि होनेसे पीछे परिणाममें प्राप्त होन्नेहारे परलोक सुखरूप व्यवहारकीभी असिद्धि होजावे है यातें अपने अपने अधिकारके अनुसार किसी जगा धर्मकी रक्षा करनी श्रेष्ठ है और किसी जगा व्यवहारकी रक्षा करनी श्रेष्ठ है इति ॥ ४७ ॥

अत्रार्थे शास्त्रीयं सिद्धांतं दर्शयति

न धर्मत्यागः स्थायित्वात् ॥ ४८ ॥

व्यवहारसिद्धिर्भवतु मा भवतु वा तदर्थं धर्मत्यागो न विधेयः विषयसेवनादिव्यवहारस्तु सर्वत्रान्ययोनिष्वपि यथा योग्यं सुलभोस्ति धर्मस्तु मनुष्यशरीरसाध्यएव प्रयत्नेन साधिताश्चापि व्यवहारसिद्धयः क्षणभंगुरा एव धर्मश्च नित्यस्थायी सर्वं व्यवहारजातं परित्यज्य गतस्यापि जीवस्य परलोके साहाय्यकारित्वात् तस्मादेवं ज्ञात्वा धर्मधुरंधरा धीरा धर्मरक्षणपरायणाः क्वचित् व्यवहारहानावपि न ततो विचलंति तथा चोक्तं महाभारते (न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः)। धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य इति ॥ ४८ ॥

अब इस वार्तामें शास्त्रका सिद्धांत दिखलावे हैं (न धर्मत्यागः स्थायित्वात्)। व्यवहारकी सिद्धि होवो अथवा नहि होवो परंतु तिसके लिये धर्मका त्याग कवी नहि करना चाहिये क्योंकि शब्दस्पर्श आदि विषयसेवन आदि रूप व्यवहार तो सव जगा अन्य पशुपक्षि आदि योनि-योंमेंभी सुलभ है परंतु धर्म तो केवल मनुष्य शरीरमेंहि संपादन होसके है और वहुत परिश्रमसे संपादन करी हुई भी व्यवहारकी सिद्धियां अंतमें सव क्षणभंगुर वि-नाश होजाती हैं किंतु धर्म तो नित्य स्थिर रहनेहारा है तथा सर्व व्यवहारोंको छोडकर अंतकालमें परलोकमें गये हूये जीवका धर्महि सहायक होवे है यातें इसप्र-कार जानकरके धर्मात्मा धीर पुरुष कहीं व्यवहारकी हानि होनेपरभी धर्मसे चलायमान नहि होते हैं अर्थात् सर्वथा धर्मकी हि रक्षा करते हैं तथा महाभारतमेंभी लिखा है। किसी कामनाकेलिये या किसीके भयसे या किसी चीजके लोभसे या अपने जीनेके लिये भी धर्मका त्याग नहि करना चाहिये क्योंकि धर्म नित्य स्थिर रहता है और सुखदुःख तो अनित्य चलायमान हैं तथा जीवा-त्माभी नित्य है और उसके हेतु शरीर आदि सव अनि-त्य हैं इति ॥ ४८ ॥

तथाख्यानाच्च ॥ ४९ ॥

श्रूयंते हि भारतादीतिहासेषु तथाभूतान्यनेकानि तेषामाख्यानानि यैर्महतीं व्यवहारहानिमुररीकृत्यापि स्वधर्मस्य रक्षणं कृतं यथा युधिष्ठिरः कुरुभ्यो राज्यं दत्वा वनं जगाम रामोपि पितृवचनाद्विपुलं राज्यं विहाय विपिनवासं समुररीचकार हरिश्चंद्रश्च विश्वामित्राय सर्वस्वमुपाहरत् शिबिरपि श्येनाय स्वमांसं कर्त्तयित्वा प्रायच्छदित्यादीनि प्रसिद्धानीति ॥ ४९ ॥

तथाख्यानाच्च । महाभारत आदि पुराणोंमें ऐसे वहुतलोकोंके इतिहास सुननेमें आते हैं कि जिनोंनें बडी भारी व्यवहारकी हानि सहनकरके भी धर्मकी रक्षा की है जैसे कि युधिष्ठिर राजा अपने सत्यपर कौरवोंकों सर्व राज्य देकर वनवासको जाताभया और रामचंद्रभी पिताके वचनसे बडे भारी राज्यको छोडकरके वनवासको स्वीकार करता भया और हरिश्चंद्र राजाभी विश्वामित्रको अपना सर्वस्व दान करता भया तथा शिबिराजाभी कपोतकी रक्षाके निमित्त श्येनके प्रति अपना शरीर काटकर देता भया इत्यादि अनेक इतिहास पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं यातें सर्वथा धर्मकी हि रक्षा करनी योग्य है इति ॥ ४९ ॥

इत्थं व्यवहाराद्धर्मस्यावश्यरक्षणीयत्वं निरूप्याधुना तत्र विशेषविमर्शं दर्शयति ।

नानिश्चिते लाभाभावात् ॥ ५० ॥

केचिदविद्वांसः स्थूलबुद्धयो जना लोके लघुधर्मकेष्वपि तीर्थयात्रोपवासादिकार्येषु पुराणस्तुतिवाक्यानुसारेण महांतं धर्मं मन्यमानाः कदाचिन्महतीमपि शरीरधनादिवियोगरूपां व्यवहारहानिमुपाश्रयंते तन्न समंजसं कुतः लाभाभावात् नहि तत्र मनुष्यशरीरत्यागादियोग्योविशेषधर्मलाभः समुपजायते तस्माद्यत्र निश्चितो विशेषधर्मलाभः स्यात् धर्मशास्त्राणां विदुषां च यत्र पुष्टा संमतिर्भवेत् यथा तपोयोगेश्वराराधनपरोपकारादिकार्याणि तत्रैव धर्मार्थे व्यवहारहानिसहनमनुज्ञायते नान्यत्रेत्यतो धर्मलाभं विनिश्चित्यैव सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यम् ॥ ५० ॥

इसप्रकार व्यवहारसे धर्मकी अवश्य रक्षाका निरूपण करके अब तिसमें विशेष विचार दिखलावे हैं । नानिश्चिते लाभाभावात् । केईएक विद्याहीन स्थूलबुद्धिवाले पुरुष तीर्थयात्रा उपवास युद्ध आदि थोडे धर्मके कामोंमें पुराणोंके स्तुतिवाक्योंके अनुसार बडा भारी धर्म सम-

झकर कबी कबी शरीर धन आदि की बडी भारी हानि सहते हैं सो वार्ता ठीक नही क्योंकि उसमें उनको कुछ बडा भारी लाभ नहि होवे है अर्थात् थोडे धर्मके कामोंमें दुर्लभ मनुष्यशरीर धन आदिकी हानि सहनेमें तिस हानिके बराबर या अधिक कुछ धर्मका लाभ नहि होवे है यातें जिस धर्मकार्यमें निश्चित पूर्ण धर्मका लाभ होवे और जिसमें वेदशास्त्रोंके पुष्ट प्रमाण होंवें और विद्वान् पुरुषोंकी पूर्णसंमति होवे जैसेकि योग तप ईश्वराराधन परोपकार आदि कार्य हैं ऐसे धर्मकार्योंकेलियेहि व्यवहारकी हानि सहना योग्य है सब जगा केवल धर्मके नामसेहि हानि नहि सहन करनी चहिये यातें सर्वत्र धर्मके लाभका निश्चय करके प्रवृत्त होना योग्य है इति ॥ ५० ॥

मुख्यत्वात्तन्निष्ठत्वं तन्निष्ठत्वम् ॥ ५१ ॥

यतो धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्ष्वपि पुरुषार्थेषु धर्मस्यैव मुख्यत्वमस्ति धर्मानुष्ठानजनितसुकृतसंचयेनैवहि पुरुषस्यार्थः कामो मोक्षश्चोपजायते नह्यधर्मिणामर्थादयो लोके कचित्सिद्धिमुपगच्छंति तस्मात्सर्वत्र सर्वदा सर्वैरेव जनैः सर्वथा धर्मसंपादनपरायणैरेव भवितव्यं तथा च महाभारते व्यासवचनं (धर्मे मतिर्भ-

वतु वः सततोत्थितानां सह्येक एव परलोकगतस्य बंधुः । अर्थास्त्रयश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवासभाव-मुपयांति नच स्थिरत्वमिति वीप्सा पादसमाप्त्यर्था ५१

इति श्रीधर्मानुशासने प्रथमः पादः ।

मुख्यत्वात्तन्निष्ठस्वं तन्निष्ठत्वम् । जिसलिये धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमें धर्मकीहि मुख्यता है क्योंकि धर्मके आचरणसे उत्पन्न हूये पुण्यके प्रभावसेहि पुरुषको अर्थ काम और मोक्षकी प्राप्ति होवे है पापी लोकोंको जगत्में कहींभी अर्थ काम और मोक्षकी सिद्धि नहि होसके है इसलिये सब जगा सर्वदा काल सर्व लो-कोंको धर्मके हि संपादन करनेमें सर्व प्रकारसे तत्पर होना योग्य है तथा महाभारतमें व्यासजीका भी वचन है (हे पुरुषो नित्य उठतेहि तुमारी बुद्धि सदा धर्ममें प्रवृत्त होवे क्योंकि एक धर्महि परलोकमें गये हूये जी-वका बंधु होवे है और धर्मके विना अर्थ काम मोक्ष यह तीनों सेवन किये हूयेभी दृढता और स्थिरभावको प्राप्त नहि होते हैं इति) सूत्रमें जो दुवारा उच्चारण है सो पादसमाप्तिकेलिये है ॥ ५१ ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य ब्रह्मानंदस्वामिविरचिते धर्मा-नुशासने प्रथमः पादः समाप्तः

सुज्ञातमेतन्मनुष्यजातेर्धर्माचरणावश्यकत्वं किंतु को धर्मः सर्वधर्माणामुत्तमः कानिच धर्मशास्त्राणि प्रमाणभूतानि कथंच तेषां प्रामाण्यमित्येतदर्थमिद-मारभ्यते

वैदिकः पूर्वाविर्भूतत्वात् ॥ १ ॥

सर्वेषां लोके प्रचलितानामप्रचलितानां धर्माणामेको वेदविहितएव धर्मः श्रेष्ठतमो विज्ञेयः कथमेतत् वेद-शास्त्रंहि सर्वधर्मपुस्तकेभ्यः पूर्वमाविर्भूतं सृष्ट्यादावु-त्पन्नस्य ब्रह्मणो हृदीश्वरप्रेरणया वेदस्य स्फुरणं जात मिति सर्वत्र शास्त्रेषु प्रसिद्धं तथाच श्वेताश्वतरोपनि-षादि 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व योवै वेदांश्च प्रहिणो-ति तस्मै' इत्यतः सर्वशास्त्रेभ्यः प्रथममाविर्भूतत्वाद्वे-दस्य सर्वोत्कृष्टत्वमवसेयम् ॥ १ ॥

किंच.

यह वार्ता ठीक जाननेमें आई कि मनुष्य जातिको धर्मका आचरण करना आवश्यक है परंतु सर्वधर्मोंसे कौनसा धर्म श्रेष्ठ है और कौन कौन धर्मशास्त्र प्रमाण-भूत हैं तथा तिनका प्रमाणपणा कैसे है इन सर्व वार्ता-ओंके निर्णय करनेके लिये अव द्वितीय पादका प्रारंभ

करे हैं । वैदिकः पूर्वाविर्भूतत्वात् । जगत्में जितने धर्म चले हूये हैं और जो नहि चले हूये हैं तिन सर्वमें एक वैदिकधर्महि श्रेष्ठतम जानना चहिये क्योंकि वेदरूप जो शास्त्र है सो सर्व धर्मपुस्तकोंसे प्रथम आविर्भूत हूया है सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हूये ब्रह्माके हृदयमें ईश्वरकी प्रेरणासे वेदका स्फुरण होता भया है यह वार्ता सर्वत्र शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है तथा श्वेताश्वतर उपनिषत्में लिखा है कि जो (ईश्वर ब्रह्माको सबसे पहले उत्पन्न करता है और जो तिसके प्रति वेदोंका उपदेश करता है इति) यातें सर्वशास्त्रोंसे प्रथम आविर्भूत होनेसे वेदका सर्व शास्त्रोंसे श्रेष्ठपणा जानना चहिये इति ॥ १ ॥

ज्ञानाधिक्यात् ॥ २ ॥

यान्यन्यसंप्रदायेषु धर्मपुस्तकानि मुख्यतयाभिमतानि विद्यंते तेषु सर्वेषु वेदे धर्मविषयं ज्ञानमधिकं विद्यते परस्परं मेलयित्वासम्यग्विचारेणैतत्सुतरां ज्ञातुं शक्यं विद्वद्भिस्तस्माद्वैदिकधर्मो वरिष्ठ इति ॥ २ ॥

ज्ञानाधिक्यात् । तथा जो जो अन्य सर्व संप्रदायोंमें धर्मपुस्तक मुख्य माने हूये हैं तिन सर्वमेंसे वेदमें धर्मविषयक ज्ञान अधिक भरा हूया है यह वार्ता सर्व धर्म-

पुस्तकोंको वेदके साथ मिलायकर विंचार करके देखनेसे विद्वानोंको भली प्रकारसे ज्ञात होसके है यातें भी वैदिक धर्म सबसे श्रेष्ठ जानना चहिये इति ॥ २ ॥

किंच

सर्वत्रानुगमात् ॥ ३ ॥

सर्वसंप्रदायगतसर्वधर्मप्रक्रियासु सर्वत्र वैदिकधर्मस्यानुगमो विद्यते क्वचित् स्वरूपेण यथा सत्यशौचेन्द्रियनिग्रहादिषु क्वचिदभिप्रायेण यथाव्रतनियमतपोदानोपासनादिषु यद्यपि तत्रतत्र संप्रदायेषु धर्माचरणप्रक्रियाभेदो वर्त्तते तथाप्यभिप्रायरूपेण तेषु प्रायो वेदस्यानुस्यूतत्वमस्त्येवेति विमृष्यमाणमुपलक्ष्यते धर्मतत्त्वविद्भिरित्यतोपि वैदिकधर्मो गरीयानिति ॥ १ ॥

सर्वत्रानुगमात्। तथा सर्व संप्रदायोंकी धर्मक्रियायोंमें वैदिक धर्मका सर्वत्र अनुगम अर्थात् प्रवेश देखनेमें आवेहै सो किसी जगा तो साक्षात् देखनेमें आवेहै जैसे कि सत्यभाषण पवित्रता इन्द्रियनिग्रह आदिकोंमें और किसी जगा अभिप्रायरूपसे देखनेमें आवे है जैसे कि व्रत नियम तप दान उपासना आदिकोंमें सो यद्यपि

परस्पर संप्रदायोंमें धर्मके आचरण करनेकी प्रक्रियायोंमे भेद है परंतु तिनमें अभिप्रायरूपसे सर्वत्र वैदिक धर्म विचार करके देखनेसे अनुगत प्रतीत होवे है यातेंभी वैदिक धर्म सबसे श्रेष्ठ है इति ॥ ३ ॥

सर्वज्ञकर्त्तृकत्वाच्च ॥ ४ ॥

अन्यानि धर्मपुस्तकान्यनीश्वरैरसर्वज्ञैराचार्यैःस्वबुद्धिविभवानुसारेण निर्मितानि ततस्तेषु क्वचिदंशेन भ्रांतत्वमनिवार्यं वेदस्तु सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रवर्त्तितत्वादभ्रांतविषयः सर्वत्र वेदेहि किल प्रायेण परलोकसंबंधिनो विषया निरूपिताः कर्मणामुपासनानांच पृथग्गतयो वर्णिताः संति नहि सर्वज्ञमंतरा कश्चित्पारलौकिकविषयेषु हस्तक्षेपं कर्त्तुमुत्सहते प्रत्यक्षत्वाभावात् तदाधारतयात्वितरेशास्त्रकाराः परलोकविषयानुपवर्णयंतः किलादरणीयवचसो भवंति नतु स्वतंत्रतयेति विज्ञेयं। यद्यपि पुस्तकाकारस्य वेदस्येश्वरनिर्मितत्वे विवादास्पदत्वं तथापि वेदशब्दनिबद्धार्थज्ञानात्मकवेदस्य त्वीश्वरेणैव सृष्ट्यादावुत्पन्नस्य पुरुषस्य हृदये स्फुरणमकारि ततोहितस्य सृष्टिविषयं ज्ञानं प्रादुर्भूतं तदनु च तेनेदमीश्वराज्ञानुरोधेनाखिलं सचराचरं जगदुत्पादितं। यथा लोके जातमात्रो बालः किमपि न

जानाति तं यथा यथा पितरौ शिक्षयतस्तथा तथा ब्रूते विचेष्टते चेत्येवमेव सृष्ट्यादौ ब्रह्माणं प्रतीश्वरस्य वेदोपदेशो विज्ञेयः नोचेत् सृष्टपदार्थानां कस्याप्युपयोगज्ञानाभावादीश्वरस्य सृष्टिरेव निरर्थिका स्यात्। तथा च श्वेताश्वतरोपनिषद्वचनं (यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै) इति सोयं वेदः प्रथमतस्तु ब्रह्मणो हृदये बोधरूपेणावस्थितोऽभूत् ततस्तेन स्वपुत्रेभ्योथर्वांगिरःप्रभृतिभ्यो मंत्ररूपेणोपदिष्टस्तैश्च बहुशाखाभेदेन शिष्यपरंपरया लोके प्रचारितः। तत्र काश्चित् शाखास्तु लुप्ताः काश्चिच्चाधुनोपलभ्यंते सर्वमेतदुक्तं मुंडकोपनिषदि 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचांगिरे ब्रह्मविद्यां स भरद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भरद्वाजोंगिरसे परावरामिति' तस्मात्सर्वज्ञेश्वरनिर्मितत्वात् शुद्धर्षिवंशपरंपरागतत्वाच्च वैदिकधर्मस्यैव सर्वेतरधर्मेभ्यः श्रेष्ठत्वमवसेयम् ॥ ४ ॥

सर्वज्ञकर्तृकत्वाच्च। तथा अन्य जो संप्रदायोंके धर्मपुस्तक हैं सो प्रायः असर्वज्ञ जीव आचार्योंने अपनी

बुद्धिबलके अनुसार निर्माण कियेहैं इसलिये तिनमें क्वचित् किसी अंशमें भ्रांतपणा संभवे है और वेद तो साक्षात् सर्वज्ञ ईश्वरने उपदेश किया है यातें सो सर्वत्र भ्रांतिसे रहित है क्योंकि वेदमें विशेषकरके परलोकसंबंधि विषयोंका वर्णन किया है तथा यज्ञादि कर्मोंकी और उपासनायोंकी भिन्न भिन्न गतियां निरूपण करी हैं सो सर्वज्ञके विना परलोकविषयके निरूपण करनेमें कोईभी हाथ नहि डाल सकता है क्योंकि दूसरेको परलोकविषयकी प्रत्यक्षता नहि होसके है केवल वेदके आधारसे पीछे तो अन्य शास्त्रकारभी परलोक विषयोंको वर्णन करते हूये माननीय वचनवाले होवे हैं परंतु स्वतंत्र रूपसे नहि होवे हैं सो यद्यपि पुस्तकाकार वेदको ईश्वरका निर्माण किया हूया होनेमें विवाद है परंतु वेदके शब्दोंमें भरेहूये अर्थ ज्ञानरूप वेदको तो सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हूये पुरुषके हृदयमें ईश्वरने हि स्फुरण कराया था तब पीछेहि तिस पुरुषको सृष्टिविषयक ज्ञान होता भया और फिर तिसने ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार यह सर्व चराचर जगत् उत्पन्न किया जैसे जन्मसमयमें बालक कुछ नहि जानता है जैसे जैसे तिसको माता पिता बोल चाल सिखलाते हैं तैसे तैसे हि सो बोलता चलता है तिसी-

प्रकार सृष्टिके आदिमें ब्रह्माके प्रति ईश्वरका वेदका उपदेश करना जानना चहिये नहि तो ईश्वरके रचेहूये पदार्थोंके उपयोग करनेका किसी जीवको ज्ञान नहि होनेसे ईश्वरकी सृष्टि हि निरर्थक होती तथा श्वेताश्वतर उपनिषत्में लिखा है कि (ईश्वरने सृष्टिके आदिमें ब्रह्माको उत्पन्न किया और उसको वेदोंका ज्ञान दिया इति) सो यह वेद पहले तो केवल ब्रह्माके हृदयमें बोंधरूपसे स्थित था पीछे तिसने अपने पुत्र अथर्वा अंगिरा आदिकोंको मंत्ररूपसे उपदेश किया तिनोंने पीछे वहुत शाखा भेदकरके शिष्यपरंपराद्वारा लोकोंमें प्रचलित किया तिनमें केई शाखा तो लुप्त होगई हैं और केई एक अब मिलती हैं सो यह सर्व वार्ता मुंडक उपनिषत्में कथन करी है (ब्रह्मा सर्व देवतायोंसे प्रथम उत्पन्न होता भया सो सर्व जगत्का कर्ता और सर्व भुवनोंकी रक्षा करनेवाला होता भया सो सर्व विद्यायोंमे श्रेष्ठ वेदविद्याको अथर्वा नाम अपने ज्येष्ठ पुत्रको कथन करता भया पीछे अथर्वा अंगिराको कथन करता भया उसने आगे भरद्वाजको कथन करी आगे भरद्वाज आंगिरस ऋषिको कथन करता भया इति) यातें वेदविद्या को ईश्वरकरके रचित होनेसे और परंपरा शुद्ध ऋषियोंके

वंशसे प्रचलित होनेसे वैदिक धर्मको दूसरे सर्वधर्मोंसे श्रेष्ठ जानना योग्य है इति ॥ ४ ॥

अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेत्यादिवाक्यैर्वेदे यज्ञविधिषु पशुहिंसा विहितास्ति तत्कथमसौ हिंसायुक्तोपि वैदिको धर्मो वरिष्ठः प्रोच्यते

हिंसाभिधानान्नेतिचेन्न निवर्त्तकत्वात् ॥५॥

वेदे जीवहिंसाभिधानाद्वैदिकधर्मस्य वरिष्ठत्वमसंभाव्यमिति चेत् नैवमत्राशंकनीयं बलवद्भिर्निर्बलानां हिंसनं हिजंतूनां स्वभावजमेव ततो मनुष्यजातेरपि पशुहिंसा स्वभावादेव प्राप्ता ते यथा स्वेच्छयाऽनियमेन बहुशो जीवहिंसां नाचरेयुस्तदर्थं वेदे यज्ञविधावेव पशुहिंसा नियमेनानुज्ञाता तद्बहिः स्वार्थपरत्वेन तां कुर्वाणा नरकादिदंडभाजो भवंतीति च प्रतिपादितं तस्माद्वेदस्याहिंसायामेव प्रयोजनमस्तीति वेदितव्यम् ॥ ५ ॥

हिंसाभिधानान्नेति चेन्न निवर्तकत्वात् । वेदमें जीव हिंसाका यज्ञमें विधान होनेसे वैदिकधर्मका श्रेष्ठपणा संभव नहि होसकता ऐसी शंका यहां नहि करनी चहिये क्योंकि बलवान् जीव निर्बल जीवोंकी स्वभावसेहि हिंसा

करतेहैं यातें मनुष्य जातिकोभी पशुहिंसा स्वभावसेहि प्राप्त है सो मनुष्य लोक अपनी इच्छासे स्वतंत्र विशेष- करके हिंसा नहि करें इसलिये वेदमे यज्ञमेहि नियमसे पशुहिंसाकी अनुज्ञा की है और यज्ञके वाहिर अपने स्वार्थके लिये पशुहिंसा करनेवालोंको नरकादि दंडका विधान किया है यातें वेदका अहिंसामेंहि प्रयोजन जा- नना चहिये इति ॥ ५ ॥

कथमेतद्विज्ञायते

निंदनादन्यत्र ॥ ६ ॥

'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येभिनंदंति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियंति' इत्यत्र मुंडकोपनिषदि हिंसायुक्तय- ज्ञात्मककर्मणो निंदाभिधीयते यदि वेदस्य हिंसाभी- ष्टा भवेत् कथं तदान्यत्र तद्युक्तकर्मणो निन्दनं कुर्यात् तस्मान्न वेदस्य हिंसायामाशयोस्तीति बोद्धव्यम् ॥ ७॥

प्रश्न, यह कैसा जाना जावे कि वेदका हिंसामें तात्पर्य नहि है। उत्तर,

निंदनादन्यत्र । मुंडक उपनिषत्में लिखा है कि (यज्ञरूप जो छोटी नौका हैं सो दृढ नहि हैं जिसमें

अष्टादश कर्म करनेवाले विधान किये हैं इन यज्ञ आदि कर्मोंको हि जो कल्याणका साधन मानते है सो मूर्ख हैं और सो जरामरणको पुनः प्राप्त होते हैं इति) सो इस वाक्यमें हिंसायुक्त यज्ञादि कर्मोंकी वेदमें निंदा लिखी है जो वेदको पशुहिंसा अभीष्ट होती तो फिर अन्यत्र तिसकी निंदा क्यों करता यातें वेदका हिंसामें प्रयोजन नहि है इति ॥ ६ ॥

उपायांतराभिधानाच्च ॥ ७ ॥

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र यज्ञस्य यत्स्वर्गप्राप्तिफलं निरूपितं तदेव 'विद्यया देवलोकः' इत्यत्रोपासनयापि प्रतिपादितमित्येवं यज्ञसाध्याशेषफलानां सिद्धये बहून्युपायांतराणि जपतपोयोगोपासनाप्रभृतीनि वेदे निर्दिष्टानि विद्यंते ततो यज्ञादन्योपायानां विधानादपि न वेदस्य हिंसायामभिप्रायोस्तीत्यवगंतव्यम् ॥ ७ ॥

उपायांतराभिधानाच्च । तथा वेदमें लिखा है कि (स्वर्गप्राप्तिकी इच्छावाला पुरुष ज्योतिष्टोम यज्ञकरके यजन करे) इस वाक्यमें जो यज्ञका फल स्वर्गनिरूपण किया है सो (उपासनासे देवलोककी प्राप्ति होवे है)

इस वेदवाक्यमें सोई स्वर्गकी प्राप्ति उपासनासेभी कथन करी है जो फल यज्ञ करनेसे होवे है उसी फलके लिये वेदमें जप तप योग उपासना आदिक अन्य उपायभी कथन किये हैं यातें यज्ञकेसिवाय दूसरे उपायभी वेदमें लिखे होनेसे वेदका अभिप्राय हिंसामें नहि है इति ॥७॥

एवं वेदस्य प्रामाण्यं निरूपयित्वाथेदानीं तद्गतमंत्रब्राह्मणयोरेकत्वं वर्णयति,

ब्राह्मणमपि तद्वत् ॥ ८ ॥

वेदे हि किल भागद्वयं मंत्रभागो ब्राह्मणभागश्च तत्र यानि संक्षिप्तगूढार्थप्रतिपादकानि मूलभूतवाक्यानि संति तानि मंत्रभाग इत्युच्यते यानिच स्फुटार्थप्रतिबोधकानि तदवयवभूतानि वाक्यानि तानि ब्राह्मणभाग इत्यभिधीयते तदेतदुभयं वेदस्य स्वरूपमित्युररीकृतं सर्वैरेव पूर्वाचार्यैरतो यथा मंत्रस्य प्रामाण्यं तद्वदेव ब्राह्मणमपि धर्मे प्रमाणमस्तीत्यवगंतव्यम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार वेदकी प्रमाणता निरूपण करके अव वेदमें जो मंत्र और ब्राह्मणभाग हैं तिन दोनोंकी तुल्यता वर्णनकरे हैं (ब्राह्मणमपि तद्वत् ॥ वेदमें दो भाग हैं एक

तो मंत्रभाग और दूसरा ब्राह्मण भाग है तिनमें जो संक्षिप्त और गूढ अर्थके प्रतिपादक मूलभूत वाक्य हैं सो मंत्रभाग कहलाता है और जो स्फुट अर्थके बोध करनेवाले मंत्रोंके अवयवभूत वाक्य हैं सो ब्राह्मणभाग कहिये है सो यह दोनों मिलके वेदका स्वरूप सब पूर्वाचार्योंने स्वीकार किया है यातें जैसा मंत्रभागका प्रमाणपणा है तैसेहि ब्राह्मणभागकाभी प्रमाणपणा जानना चहिये इति ॥ ८ ॥

मंत्रार्थप्रकाशकत्वात् ॥ ९ ॥

मंत्रगतगूढार्थानां ब्राह्मणेनैव प्रकाशः क्रियते मंत्रेष्वनुक्तमप्युपयोगिपदं ब्राह्मणेन पूर्यते क्वचित्परस्परमनन्वितानि चापि मंत्रपदानि ब्राह्मणेन स्पष्टीक्रियंते एवं मंत्रानुबंधित्वाद्ब्राह्मणस्य तत्सदृशमेव प्रामाण्यम् ८

मंत्रार्थप्रकाशकत्वात् ॥ मंत्रोंमें रहेहूये गूढ अर्थोंका ब्राह्मण करकेहि प्रकाश कियाजावे है तथा मंत्रोंमें अनुक्त जो उपयोगी वार्ता है सोभी ब्राह्मणसेहि पूर्ण की जाती है तथा कहीं कहीं मंत्रोंमे परस्पर अन्वयविनाके जो पद हैं सोभी ब्राह्मणसेहि स्पष्ट होतेहैं इसप्रकार सर्वथा मंत्रभागका साथी होनेसे ब्राह्मणभागका मंत्रभागके तुल्यहि प्रमाणपणा है इति ॥ ९ ॥

तन्नियोगदर्शित्वात् ॥ १० ॥

कस्य मंत्रस्य किं छन्दः को मुनिः का देवता कस्मिन्नर्थे विनियोगः कुत्र कस्मिन् कर्मणि कदा कस्य मंत्रस्योच्चारणं कार्यमित्येतत्सर्वं विधिजातं ब्राह्मणादेव विज्ञायते तेन विना सर्वत्र मंत्रविषये महांधकार एवातः सर्वत्र मंत्रानुषंगित्वात्तदवयवभूतस्य ब्राह्मणस्य मंत्रवदेव प्रामाण्यमस्तीत्यवगंतव्यमिति ॥ १० ॥

तन्नियोगदर्शित्वात् ॥ किस मंत्रका कौन छंद है कौन ऋषि है कौन देवता है किस अर्थमे किस मंत्रका विनियोग है किस कालमे किस कर्ममे किस मंत्रका उच्चारण करना चहिये इत्यादि सर्वविधि ब्राह्मणभागसेहि विदित होती है ब्राह्मणके विना सर्वत्रमंत्र विषयमें अंधकारहि होवे है यातेंभी सर्वत्र मंत्रका साथी और तिसका अवयव भूतहोनेसे ब्राह्मणका मंत्रके तुल्यहि प्रमाणपणा जानना योग्य है इति ॥ १० ॥

अध्यात्मविद्याधिक्याच्च ॥ ११ ॥

वेदस्य ब्राह्मणभागएवाध्यात्मविद्याया विशेषतया वर्णनं वर्त्तते प्रायेण निखिला अपि केनकठप्रश्नमुंडकमांडूक्यछांदोग्यबृहदारण्यकाद्य उपनिषदो ब्राह्म-

णभाग एवोपलभ्यंते यद्यपि क्वचिदीशावास्यादिषु मं-
त्रेष्वपि ब्रह्मविद्याया निरूपणमस्ति तथापि तस्याति-
संक्षिप्तत्वान्न सर्वांगब्रह्मविचारणे पर्याप्तत्वं वेदोक्ताशे-
षविषयेभ्यः सकाशाच्च ब्रह्मविद्यायाः प्रधानत्वं सर्व-
मान्यं ततोपि ब्राह्मणस्य मंत्रस्येव प्रधानं प्रामाण्यम-
वगंतव्यं कैश्चिदनार्यैः स्वसंप्रदायपुष्ट्यर्थं कृत्रिमा अ-
प्युपनिषदो ब्राह्मणभागेषु निवेशिताः संत्यतः पूर्वा-
चार्यैः संमता एवोपनिषदो ग्रहीतव्या इति ॥ ११ ॥

अध्यात्मविद्याधिक्याच्च ॥ वेदके ब्राह्मणभागमेहि वि-
शेषकरके अध्यात्मविद्याका वर्णन किया है क्योंकि प्रायः
केन कठ - प्रश्न मुंडक मांडूक्य छांदोग्य बृहदारण्यक
आदि उपनिषदों ब्राह्मणभागमेहि देखनेमें आती हैं यद्य-
पि कहीं ईशावास्यादि मंत्रभागमेभी ब्रह्मविद्याका निरू-
पण है परंतु सो अतिसंक्षिप्त होनेसें सर्वांगब्रह्मविचारमें
पूर्ण नहि हैं और वेदोक्त सर्वविषयोंमे अध्यात्मविद्याका
मुख्यपणा सब विद्वानोंको माननीय है यातेंभी ब्राह्मण-
भागका मंत्रभागके समान मुख्य प्रमाणपणा जानना
चहिये । केई एक स्वार्थी लोकोंने अपनी संप्रदायकी पुष्टि
केलिये कृत्रिम उपनिषदोंभी ब्राह्मणभागमे पीछेसे प्रवेश
करदी प्रतीत होती है परंतु जो शंकराचार्यआदि पूर्वके

आचार्यलोकोंने उपनिषदों मानी हैं तिनहिका विवेकी पुरुषोंको ग्रहण करना चहिये इति ॥ ११ ॥

याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः तस्य ह नचकेता नाम पुत्र आस, वामनो ह विष्णुरास, इत्यादिभूतकथाप्रसंगा हि ब्राह्मणभागे समुपलभ्यंते तत्कथं तस्य सृष्ट्यादावुत्पन्नेन वेदेन तुल्यत्वं संभवतीति चेत् ।

पूर्वापरत्वेपि मंत्रसहयोगित्वात्तदभिन्नत्वम् ॥१२॥

कथाप्रसंगादिनिमित्तेन मंत्रब्राह्मणयोः पूर्वापरत्वमपि स्वीक्रियतेचेत् तदापिनब्राह्मणस्यवेदात्पृथक्त्वं संभवति कुतः मंत्रार्थव्याख्यानात् तदुपयोगदर्शित्वात् तद्विधिनिरूपणाच्च ब्राह्मणस्यवेदरूपत्वंबोद्धव्यं नहि ब्राह्मणमंतरा क्वचित्स्वातंत्र्येणमंत्राणामुपयोगः कर्तुंविधिर्वावगंतुंशक्यतेतस्मान्नित्यंमंत्रसहचारित्वात् ब्राह्मणस्यवेदरूपत्वमेवनिश्चेतव्यं तथाच कात्यायनसूत्रं (मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति ॥ १२ ॥

याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियां थी, जनक वैदेह वहुत दक्षिणावाले यज्ञसे यजन करताभया, हे भगवन् मुझको

उपदेश करो ऐसे नारदने सनत्कुमारसे कहा, तिस उद्दा-
लकका नचकेता नाम पुत्र था, विष्णु वामनरूप होता
भया, इत्यादि अनेक वीती हूई कथायों ब्राह्मणभागमे
देखनेमे आतीहैं तो फिर सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हूये
वेदके साथ तिसकी तुल्यता कैसे संभवे है ऐसी शंका
होनेसे समाधान कहे हैं (पूर्वापरत्वेपिमंत्रसहयोगित्वात्त-
दभिन्नत्वम् । कथाप्रसंगादिकारणसे जो कथंचित् मंत्र-
भागसे कुछकालपीछेब्राह्मणभागकानिर्माणहूयामानें तोभी
ब्राह्मणभागवेदसेभिन्न नहिहोसकता है क्योंकि मंत्रोंके
अर्थ बतलानेसे उनका उपयोग बतलानेसे तथा उनकी-
विधिनिरूपणकरनेसे ब्राह्मणभागकोवेदरूपहिसमझनाच-
हिये क्योंकि ब्राह्मणकेविनाकहींभीस्वतंत्ररूपसे मंत्रोंका
उपयोगकरना अथवा तिनकी विधिकोजानना नहिहो-
सकेहै यातें निरंतर मंत्रभागकासाथी होनेसे ब्राह्मणभा-
गको वेदरूपहि जानना चाहिये तथा कात्यायन ऋषि-
काभी वचनहै कि (मंत्रभाग तथा ब्राह्मणभागदोनों-
मिलके वेद कहलाताहै इति ॥ १२ ॥

एवं वेदविषयं प्रामाण्यं निरूप्याधुना दर्शनविषयं
वर्णयति

दर्शनान्यप्यध्यात्मनिरूपणात् ॥ १३ ॥

तद्वदितिपदमनुकृष्यते कपिलपतंजलिजैमिन्यादिभिर्मुनिवरैर्वि रचितानि सांख्ययोगमीमांसादीनि दर्शनान्यपि वेदवद्धर्मे प्रमाणभूतानि संतीत्यवगंतव्यं कुतः अध्यात्मनिरूपणात् सांख्ययोगादिदर्शनेषु प्रायेणाध्यात्मधर्मस्य निरूपणमस्ति वेदे समासतयोक्तस्याध्यात्मविषयस्य दर्शनेषु विस्तारपूर्वकं निरूपणाद्दर्शनानां प्रामाण्यं समुररीकरणीयम् ॥ १३ ॥

इसप्रकार वेदविषयका प्रमाणपणा निरूपणकरके अब दर्शनविषयका वर्णन करे हैं (दर्शनान्यप्यध्यात्मनिरूपणात् ॥ कपिल पतंजलि जैमिनि आदि मुनियोंनें निर्माण किये जो सांख्य योग मीमांसा आदि दर्शनशास्त्र हैं सोभी वेदकी न्यांई धर्मविषयमें प्रमाणभूत जानने चहिये क्योंकि सांख्ययोगादि दर्शनोंमे प्रायः करके अध्यात्म धर्मका निरूपण किया है वेदमें जो अध्यात्मविषय संक्षेपसे वर्णन किया है सोई दर्शनोंमे विस्तारपूर्वक निरूपण किया है इसलिये दर्शनशास्त्रोंका प्रमाणपणा अंगीकार करना योग्य है इति ॥ १३ ॥

परस्परविरोधान्नेतिचेन्न दृढीकरणात् ॥ १४ ॥

सांख्यवेदांतन्यायादिदर्शनेषु परस्परं विरुद्धार्थप्र-

तिपादनान्नप्रमाणत्वमिति चेन्नैव मत्राशंकनीयं कुतः दृढीकरणात् परस्परविवादेन हि किल वस्तुनिर्णयो जायते स्वस्वमतानुसारेण मुनिवरैस्तत्त्वनिर्णयेन दर्शनेषु सम्यक्तया तत्त्वज्ञानस्य दृढीकरणं कृतं नहि परस्परविरुद्धाभिधानमंतरा क्वचिद्वस्तुनिर्णयो जायते यथा राजसभायां परस्परविवादं चरंतो मंत्रिणोऽर्थस्य निर्णयं कुर्वंति तद्वद्दर्शनेष्वपि द्रष्टव्यमित्यतस्तेषामध्यात्मधर्मनिरूपकत्वात्सर्वतः प्रामाण्यं समंजसम् ॥ १४ ॥

परस्परविरोधान्नेतिचेन्न दृढीकरणात् ॥ सांख्य वेदांत न्याय आदि दर्शनोमें परस्परविरुद्ध पदार्थोंका प्रतिपादन होनेसे सो प्रमाणभूत नहि हैं ऐसी शंका इस जगामें नहि करनी चहिये क्योंकि परस्परविवादकरनेसेहि वस्तुका निर्णय होवेहै अपने अपने मतके अनुसार ऋषिलोकोंने तत्वोंका निर्णय करनेसे दर्शनोंमें भलीप्रकारसे तत्त्वज्ञानको दृढ किया है क्योंकि परस्परविरुद्ध भाषणके विना कहींभी किसी वस्तुका निर्णय नहि होसकता जैसे राजसभामें परस्पर विवाद करतेहूये मंत्रीलोक पदार्थका निर्णय करते हैं तैसेहि दर्शनशास्त्रोंके वारेमेंभी समझलेना चहिये सो इसप्रकार अध्यात्मधर्मके निरूपक होनेसे दर्शनोंका सर्वप्रकारसे प्रमाणपणा ठीक है इति १४

इत्थं दर्शनविषयं प्रामाण्यं निरूपयित्वाधुना स्मृतिविषयं वर्णयति

स्मृतयश्च ॥ १५ ॥

मनुयाज्ञवल्क्यवसिष्ठपराशरादिस्मृतयोपि धर्मे सर्वत्र प्रमाणभूता वेदितव्याः सर्वेप्येते मुनयो वेदार्थवेत्तारो लोकव्यवहाराभिज्ञाश्चाभवन्नतस्तैर्निर्मितानां शास्त्राणां प्रामाण्यं समुचितमेव ॥ १५ ॥

इसप्रकार दर्शन विषयका प्रमाण निरूपण करके अब स्मृतिविषयका वर्णन करते हैं। स्मृतयश्च ॥ तैसेहि मनु याज्ञवल्क्य वसिष्ठ गौतम पराशर आदि स्मृतियोंकोभी धर्माचरणसे प्रमाणभूत जानना चहिये क्योंकि मनु याज्ञवल्क्यादि यह सर्व ऋषिलोक वेदके अर्थके जाननेहारे और लोकव्यवहारके जाननेवाले हूये हैं यातें तिनके निर्माण कियेहूये शास्त्रोंका प्रमाणपणा ठीक है, इति ॥ १५ ॥

वेदानुकूलत्वात् ॥ १६ ॥

मन्वादिभिर्यदुक्तं तदखिलं वेदानुकूलमेवोपलभ्यते सर्वत्रच तैर्वेदस्याध्ययनं वेदार्थपरिग्रहणं वैदिकधर्म-

पालनमित्यादिना वेदस्यैव प्रशंसनं स्वशास्त्रेपूपवर्णितं वेदविरुद्धधर्माणां चाग्राह्यत्वं प्रतिपादितमतः सर्वथा वेदानुकूलत्वात् वैदिकधर्मप्रवर्त्तकत्वाच्च मन्वादिस्मृतीनां प्रामाण्यं समंजसम् ॥ १६ ॥

वेदानुकूलत्वात् ॥ क्योंकि मनु याज्ञवल्क्यादिकोंने जो कुछ कथन कियाहै सो सबी वेदके अनुकूलहि देखनेमे आवे है और तिनके शास्त्रोंमे सर्वत्र वेदका अध्ययन करना वेदके अर्थका ग्रहण करना वैदिकधर्मका पालन करना इत्यादि वेदकीहि प्रशंसा वर्णन करीहै और वेदविरुद्ध धर्मोंकी निंदा की है यातें सर्वथा वेदके अनुकूल होनेसे और वैदिकधर्मकी प्रवर्तक होनेसे मनु याज्ञवल्क्य आदिस्मृतियोंका प्रमाणपणा युक्तहि है इति ॥ १६ ॥

कचिन्मनुयाज्ञवल्क्यादिषु स्मृतिषु वेदाभिप्रायादधिकमप्यर्थजातं प्रतिपादितमुपलभ्यते तत्कथं तासां सर्वथा वेदानुकूलत्वमुच्यते

विशेषत्वमधिकारात् ॥ १७ ॥

चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च पृथग्धर्मा राजधर्माः श्राद्धादिकर्मविधयस्त्रिगुणात्मकसृष्ट्युत्पत्तिक्रमः पापभेदास्तत्प्रायश्चित्तानि चेत्यादयो विषया वेदे संक्षेप-

णैवोक्तास्तेषांमन्वादिस्मृतिषु यदिदं विशेषत्वं दृश्यते तन्नायुक्तं कुतः वेदार्थविदुषां धर्माचार्याणामखिललोकमान्यवचसां देशकालानुसारेण वेदानुकूलत्वेन विस्तरेण स्वाभिमतार्थप्रतिपादनेऽधिकारोस्ति नहि संक्षिप्तार्थस्य सर्वसाधारणस्य वेदनिर्देशस्य देशकालस्थित्यनुकूलमंतरा सर्वत्रैकाकारेण प्रयोगो युक्तो भवत्यतो वेदोक्तधर्माणां देशकालानुरोधेन विस्तरेण स्वशास्त्रेषु प्रतिपादनं मन्वादीनां समुचितम् ॥ १७ ॥

प्रश्न, कहीं कहीं मनु याज्ञवल्क्यादि स्मृतियोंमें वेदके अभिप्रायसे अधिक बातेंभी लिखी हुई देखनेमें आतीहैं तो फिर सो सर्वथा वेदके अनुकूल कैसे कही जासकती हैं। उत्तर,॥ विशेषत्वमधिकारात्। चारोंवर्णोंके और आश्रमोंके भिन्न धर्मोंका और श्राद्धादिक कर्मविधियोंका और त्रिगुणमय सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रमका तथा पापोंके भेद और तिनके प्रायश्चित्तोंकी विधि इत्यादि विषयोंका वेदके अभिप्रायसे मनु याज्ञवल्क्य आदिकोंने अपने शास्त्रोंमे विशेषकरके वेदसे अधिक निरूपण किया है सो अयुक्त नहिहै क्योंकि वेदके अर्थजाननेवाले और सर्वलोकोंके माननीय वचनवाले धर्मके आचार्योंको देशकालके अनुसार वेदके अनुकूल अपनी अभिमत वार्ताको विस्तारसे

प्रतिपादन करनेमें अधिकार होंवेहै क्योंकि संक्षिप्तरूप सर्वसाधारण जो वेदका उपदेश है तिसका देशकालकी स्थितिकी अनुकूलताके विना सबजगा एकरूपसे प्रयोग ठीक नहि होसकता यातें मनुआदिकोंने जो देशकालके अनुसार वेदोक्तधर्मोंका अपने शास्त्रोंमे विस्तारसे निरूपण किया है सो युक्तहि है इति ॥ १७ ॥

यद्येवमाचार्याणां स्वबुद्ध्या वेदार्थादधिकमुपवर्णनमनुज्ञायते तदा भवेत्कस्यचिद्वेदविरुद्धार्थप्रतिपादने प्रवृत्तिरपीति चेत्

विरोधेत्वनादानं सर्वत्र ॥ १८ ॥

यद्यपि संक्षिप्तार्थप्रतिपादनपरे वेदे जगद्गताखिलविषयास्तत्र नोपदेष्टुं शक्यंते नचापि तत्र सर्वलौकिकविषयाणामन्वेषणं युक्तं तथापि यस्य धर्मविषयस्य लौकिकविषयस्य वा धर्मशास्त्रेषु चर्चोपलभ्यते वेदे च नोपलभ्यते स विषयो यदि कुत्रापि वेदवाक्येषु प्रतिषिद्धो न भवेत् तस्य ग्रहणं नानुचितं प्रतिषेधाभावाद्वेदानुमतेरनुमानात् यस्य विषयस्य तु वेदे साक्षान्निषेधः कृतो भवेत् तस्य धर्मशास्त्रविहितस्यापि सर्वत्र धर्माचरणे ग्रहणं नैव करणीयं नचैकांशविरोधे सर्वस्यापि

तस्य धर्मशास्त्रस्य बहिष्करणं युक्तं बहुष्वंशेषूपयोगित्वात् बहुषु स्थलेषु वेदविरुद्धानि शास्त्राणि तु परिहरणीयान्येव यथोक्तं मनुना 'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृता' इति ॥ १८ ॥

प्रश्न. इस प्रकार जो अपनी बुद्धिसे वेदके अभिप्रायसे अधिक प्रतिपादनकरनेका आचार्योंको अधिकार है तो किसी आचार्यकी कदाचित् वेदके विरुद्धवार्ताके प्रतिपादन करनेमेंभी प्रवृत्ति होसकेगी (विरोधे त्वनादानं सर्वत्र ॥ यद्यपि वेदमे सर्ववार्ता संक्षेपसे प्रतिपादन करी हैं तिसमे सर्व जगत्भरके विषय प्रवेश नहि किये जासकते और वेदमें सवी लौकिक विषयोंका ढूंडनाभी ठीक नहिहै तथापि जिस धर्मविषयकी वा लौकिकविषयकी धर्मशास्त्रोंमें चर्चा होवे और वेदमे उसका निरूपण नहि होवे परंतु जो वेदमें उस विषयका कहीं निषेध नहि किया होवे तो तिसका ग्रहण करना अनुचित नहि है क्योंकि वेदमें निषेध नहि होनेसे तिसमे वेदकी अनुमतिका अनुमान होवे है और जिस विषयका वेदमे साक्षात् निषेध किया होवे तो तिसका धर्मशास्त्रोंमे विधान होनेपर भी ग्रहण नहि करना चहिये और जो किसी धर्मशास्त्रका

कोईएक अंश वेदके विरुद्ध होवे तो तिस सबी शास्त्रका निरादर नहि करना चहिये क्योंकि उसके दूसरे बहुत अंशोंके उपयोगी होनेसे और जो शास्त्र बहुत अंशोंसे वेदके विरुद्ध होवें तो तिनका तो परित्याग करदेना उचित है तथा मनुस्मृतिमेंभी लिखाहै कि (जो स्मृतियां वेदके विरुद्ध हैं और जो कोई वेदके विरुद्ध दुष्टमत हैं सो सर्वहि तमोगुणी और परलोकमें निष्फल होवे हैं) इति ॥ १८ ॥

इत्थं स्मृतिविषयं प्रामाण्यं निरूपयित्वाऽधुना पुराणविषयं वर्णयति ।

पुराणमप्युपयोगित्वात् ॥ १९ ॥

धर्मविषये महाभारतस्येतरेषां च पुराणानां मत्स्य कूर्मादीनामपि प्रामाण्यमंगीकर्त्तव्यं यद्यपि मन्वादिस्मृतिष्विवानुपूर्वकं पुराणेषु धर्माणां वर्णनं न कृतं तथापि सर्वत्र प्रसंगेषु तत्र तत्र वर्णाश्रमधर्माणामुपवर्णनं तेषु विद्यते येच धर्माः स्मृतिषु समासेन प्रोक्तास्तएव पुराणेषु दृष्टांतरूपाभिरनेकाख्यायिकाभिर्विस्तरेणोपवर्णिताः संत्यतः स्मृतिवत्पुराणानामप्युपयोगित्वात् धर्मविषये प्रामाण्यमुररीकरणीयं यथा स्मृ-

तिषु मनुस्मृतेः प्राधान्यं तथैवाखिलपुराणेषु महाभारतस्य प्राधान्यं विज्ञेयमिति ॥ १९ ॥

इसप्रकार स्मृतिविषयकी प्रमाणता निरूपणकरके अब पुराणविषयका वर्णन करे हैं (पुराणमप्युपयोगित्वात् ॥ धर्मके आचरणमें महाभारत और मत्स्यकूर्म आदि पुराणोंकाभी प्रमाणपणा अंगीकार करना चहिये यद्यपि मनुआदि स्मृतियोंकी न्यांई आनुपूर्वक पुराणोंमें धर्मोंका निरूपण नहि किया है तथापि तिनमे सर्वत्र प्रसंगोंमे जहां तहां वर्णाश्रमोंके धर्मोंका भली प्रकारसे निरूपण किया हूया है जो धर्म स्मृतियोंमें संक्षेपसे कथन किये हैं तिनहिका पुराणोंमे दृष्टांतरूप अनेक कथायोंसे विस्तार करके वर्णन किया है यातें स्मृतियोंके सदृश पुराणोंकोभी उपयोगी होनेसे धर्मविषयमें प्रमाण मानना योग्य है और जैसे स्मृतियोंमें मनुस्मृति मुख्य है तैसेहि सर्व पुराणोंमें महाभारतकी प्रधानता जाननी चहिये इति १९

इतिहासावश्यकत्वाच्च ॥ २० ॥

नवीनधर्माऽभिलाषुकाणां धर्माचरणे पूर्वेषां धर्मात्मनां धर्मविषयाणि चरितानि श्रूयमाणानि किलोत्तेजकानि भवंति यदा तैरेवं कृतं तदाहमपि करिष्या-

म्येवेति मनस्युत्साहो जायते पूर्वपुरुषप्रमाणाभावे तु मयेदं कर्त्तुं शक्यमशक्यंवेति संशयापत्तेरप्रवृत्तिरेव स्यात् किंच लोकव्यवहारेपि अस्मिन् देशे पुरा के राजानोऽभवन् कथं च तेषां वंशप्रवृत्तिः कश्च तेषां धर्मोऽभूत् कथंभूतानि च तेषामाचरणान्यासन्नित्येतज्ज्ञानार्थमपीतिहासानामावश्यकत्वं सर्वं चैतत्पुराणेषूपलभ्यते तस्मात्तेषामुचितमेव प्रामाण्यम् ॥ २० ॥

इतिहासावश्यकत्वाच्च ॥ धर्माचरणके नवीन अभिलाषुक पुरुषोंको पुराने धर्मात्मायोंके धर्मविषयक चरित्र सुनेहूये उत्तेजक होते हैं जब उनोंने ऐसा किया है तो मैंभी वैसा करूंगा इसप्रकारका मनमे उत्साह उत्पन्न होवे है पूर्वके पुराने पुरुषोंके प्रमाणके नहि होनेसें तो मैं इस कामको करसकूंगा कि नहि करसकूंगा ऐसा संशय होनेसे किसी कर्ममेभी किसीकी प्रवृत्तिहि नहि होवेगी यातें पुरातन पुरुषोंके इतिहासोंकी आवश्यकता है तथा लोकव्यवहारमेंभी इस देशमें कौन कौन राजा होते भये हैं कैसे तिनके वंश चले क्या तिनका धर्म था कैसे तिनके आचरण थे इन वार्तायोंके जाननेकेलिये इतिहासोंकी आवश्यकता है और सो यह वार्ता पुराणोंमें

प्रायः मिलसकती हैं यातेंभी धर्मविषयमे पुराणोंकी प्रमाणता युक्त है इति ॥ २० ॥

कपोतेन वने व्याधस्यातिथ्यकरणं सरोवरे मत्स्यत्रयाख्यानं सगरस्य षष्टिसहस्राण्यपत्यानि बभूवुस्तैश्चांभोनिधिखननमिन्द्रस्य पर्वतपक्षच्छेदनं देवासुरयोरर्णवमंथनमगस्त्यस्य सागरांबुपानं यादवानां बहुकोटिविस्तारः भीमस्यातिबलशालित्वं कुंभकर्णस्य चाप्यत्यायतशरीरत्वमित्याद्यनेकस्थलेषु पुराणेष्वितिहासानां महद्वैलक्षण्यं श्रूयते किमर्थमेतत्

रोचनार्थं तु तद्वैचित्र्यम् ॥ २१ ॥

तेषामितिहासानां पुराणेषु यद्वैचित्र्यं श्रूयते तत्तु रोचनार्थमेव विज्ञेयं लघुमप्यर्थं गृहीत्वा तस्य विस्तारपूर्वकं विलक्षणत्वेन वर्णनं श्रोतृजनचित्ताकर्षणार्थं यथा श्रोतारः श्रोत्रसुखानि रम्याणि विलक्षणान्याख्यानानि श्रुत्वा प्रसन्नचेतसस्तद्गतमानसा भवेयुरित्यतः श्रोतृजनचित्तरंजनार्थमेवेतिहासेषु वैचित्र्यं मुनिवरैरुपवर्णितमित्यवसेयम् ॥ २१ ॥

प्रश्न. एक कबूतरकरके बनमें व्याधका सत्कार करना एक तालावमें तीन मित्र मछलियांका वार्तालाप होना

सगरराजाके साठहजार पुत्र होने उनकरके समुद्रका खोदेजाना इन्द्रकरके पर्वतोंके पक्षोंका छेदन होना देवतादैत्योंका मिलकरके समुद्रमथन करना अगस्तिमुनिका समुद्रपान करना यादवोंका बहुत कोटि विस्तार होना भीमसेनका बडाभारी बल होना कुंभकर्णका बडाभारी शरीर होना इत्यादि अनेक जगायोंमें पुराणोंमें इतिहासोंका वडा विलक्षणपणा सुननेमें आता है सो इसका क्या प्रयोजन है।

उत्तर. (रोचनार्थं तु तद्वैचित्र्यम् ॥ इतिहासोंका जो पुराणोंमे विचित्रपणा सुननेमें आता है सो तो लोकोंकी रुचि उपजानेके लिये जानना चहिये थोडीसी बातको लेकरके उसका विस्तार करके विलक्षणरूपसे जो पुराणोंमें वर्णन किया है सो केवल श्रोतालोकोंके चित्तके आकर्षण करनेके लिये है कि जिससे श्रोतालोक सुंदर रमणीक विचित्र आख्यानोंको सुनकरके प्रसन्न चित्तहूये सुननेमें तत्पर होवें यातें श्रोतापुरुषोंके मनोरंजन करनेके लियेहि ऋषिलोकोंने पुराणोंमें इतिहासोंको विचित्ररूपसे वर्णन किया है ऐसा जानना चहिये इति ॥ २१ ॥

चित्तरंजनप्रयोजनमाह—

तद्द्वारा धर्मोपदेशात् ॥ २२ ॥

यदा पुराणेषु केवलमितिहासरम्यत्वमेव स्यात् तदा तु भवेत्तेषां शंकास्पदत्वं परंतु पदे पदे तेषु प्रसंगेन समस्तधर्माणामध्यात्मविद्यायाश्चोपवर्णनमुपलभ्यते ततो रम्याख्यायिकाद्वारा धर्मोपदेशकरणमृषीणां प्रयोजनं यथेतिहासद्वारा धर्मोपदेशस्य साफल्यं जायते न तथा सरलरीत्या तस्य निरूपणेन जायते महाभारतेपि मोक्षधर्मे 'अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरातन'मित्येवं सर्वेषां युधिष्ठिरस्य धर्मविषयप्रश्नानामितिहासैरेव भीष्मेणोत्तरमदायि कठकेनप्रश्नछांदोग्यबृहदारण्यकाद्युपनिषत्सु चेतिहासैरेवोपदेशस्य वर्णनमस्ति सम्यग्विचार्यमाणश्च न कोपीतिहासः पुराणेषूपदेशविकलो वर्त्तते तस्माद्विलक्षणेतिहासश्रवणेनाभिमुखानां श्रोतॄणां प्रसंगेन धर्मोपदेशकरणात्पुराणानामनवद्यत्वम् ॥ २२ ॥

अब श्रोतालोलोंके चित्त रंजनकरनेका प्रयोजन कथन करते हैं (तद्द्वारा धर्मोपदेशात् ॥ जो पुराणोंमे केवल इतिहासोंकी रम्यताहि होती तो तिनमें कदाचित् कुछ शंकाभी होसकती परंतु तिनमें तो जगाजगापर प्रसंगसे

सर्ववर्णाश्रमोंके धर्मोंका और अध्यात्मविद्याका वर्णन देखनेमें आवे है इसलिये सुंदर कथाद्वारा धर्मका उपदेश करनाहि ऋषियोंका प्रयोजन है क्योंकि जैसे इतिहासोंद्वारा धर्मके उपदेशकी सफलता होवे है तैसे सरल रीतिसे धर्मके निरूपण करनेसे नहि होवे है तथा महाभारतके मोक्षधर्मपर्वमें (यहांपरभी यह इतिहास है, यहां परभी यह इतिहास है) इसप्रकारसे युधिष्ठिरके सर्वधर्मविषयक प्रश्नोंका भीष्मपितामहने इतिहासोंद्वाराहि उत्तर दिया है तथा केन कठ प्रश्न छांदोग्य वृहदारण्यक आदि उपनिषदोंमेभी नानाप्रकारके इतिहासोंद्वाराहि ज्ञानोपदेशका वर्णन किया है और भलीप्रकारसे विचार करके देखनेसे कोईभी इतिहासपुराणोंमें उपदेशके विना नहि है यातें विचित्र इतिहासोंके श्रवणसे सन्मुख हूये श्रोतालोकोंको प्रसंगसे धर्मका उपदेशकरनेसे पुराणोंका निर्दोषपणा है इति ॥ २२ ॥

आधिक्यं च प्रवृत्त्यर्थम् ॥ २३ ॥

यच्च पुराणेषु गंगादितीर्थानां सुवर्णादिदानानां कार्तिकादिमासानामेकादश्यादिव्रतानामतिशयेन माहात्म्यमुपवर्णितमस्ति तत्सर्वं लोकानां प्रवृत्त्यर्थं विज्ञेयं

स्वभावोयं जनताया यद्वस्तुगुणश्रवणानंतरमेव तत्र प्रवर्त्तंते तीर्थदानव्रतादीनां माहात्म्यं श्रुत्वैव जनास्तत्र प्रवर्त्तंते तच्छ्रवणाभावे तु फललाभनिश्चयाभावाद-प्रवृत्तिरेव लोकस्य स्यादतः फलातिशयोक्तीनां शुभ-कर्मसु लोकानां प्रवर्त्तनमेव प्रयोजनं तदेवं लोकप्रवृत्ति-हेतुत्वान्माहात्म्यानां पुराणेषूपवर्णनं सार्थकम् ॥ २३ ॥

आधिक्यं च प्रवृत्त्यर्थम् ॥ तथा जो पुराणोंमे गंगा-दितीर्थोंका सुवर्णादिदानोंका कार्तिकादिमासोंका एका-दशीआदिव्रतोंका अतिशयकरके माहात्म्य वर्णन किया है सो सबी लोकोंकी प्रवृत्तिकेलिये जानना चहिये क्योंकि यह सर्वलोकोंकी स्वाभाविक बात है कि प्रथम वस्तुके गुणश्रवणकरकेहि पीछे तिसकेलिये प्रवृत्त होते हैं और तीर्थ दान व्रतादिकोंका माहात्म्य सुन करकेहि लोक तिनमें प्रवृत्त होते हैं माहात्म्यके श्रवण नहि होनेसे तो लोकोंकी तिनमें प्रवृत्तिहि नहि होवेगी यातें तीर्थव्रतादि कफलोंकी अतिशयता कथन करनेका लोकोंकी शुभक-र्मोंमें प्रवृत्ति करानाहि प्रयोजन है यातें लोकोंकी प्रवृ-त्तिके हेतु होनेसें पुराणोंमें माहात्म्योंका वर्णन करना सार्थक है इति ॥ २३ ॥

व्यासवरेण गांधारी युद्धे मृतमपि पुत्रशतं पुनरप-
श्यत् दुर्वासःशापेन च यादवकुलं नष्टमभूत् विप्रकु-
मारवचनेन चटका भस्मत्वमागता गौतमशापेनेन्द्रस्य
शरीरे सहस्रभगलांछनमजायत कपिलमुनिकोपेक्षणेन
सगरात्मजा भस्मत्वमाययुः दुर्वाससो वरेण कुंतीक-
र्णादिपुत्रचतुष्टयं लेभे भगवंतमादित्यं च साक्षादप-
श्यदित्यादि यन्मुनीनां तपस्विनां योगिनां सिद्धानां
च वरशापप्रदानांतर्धानदीर्घजीवित्वादिकं पुराणेषु श्रू-
यते. तत्कथमुपपद्यते तत्राह—

प्रश्न, महाभारतमे लिखा है कि कुरुपांडवोंके युद्धमें
मरेहूये सौ पुत्रोंको व्यासजीके वरसे फिर गांधारीने
देखा, दुर्वासामुनिके शापसे समस्त यादवकुलका नाश
हूया, ब्राह्मणके बालकके वचनसे वन में चिड़िया भस्म
होगई, गौतमके शापसे इन्द्रके शरीरमे हजार भगके
चिन्ह होगये, कपिलमुनिके क्रोधसे देखनेसे सगरके पुत्र
भस्म होगये. दुर्वासाऋषिके वरसे कुंतीको कर्ण युधिष्ठिर
आदि चार पुत्र प्राप्त हूये और सूर्य भगवान्‌का दर्शन
हूया, इत्यादि पुराणोंमें जो ऋषि मुनियोंका तपस्वियोंका,
योगियोंका सिद्धोंका और सतियोंका वरशाप देना अंत-

धान होना दीर्घकालपर्यंत जीते रहना सुननेमें आता है सो यह सब विलक्षणवार्ता कैसे संभवे हैं।

सामर्थ्यविशेषादुपपत्तिः ॥ २४ ॥

तपस्विषु योगिषु सिद्धेषु चेतरजनविलक्षणं सामर्थ्यं भवति ततः सामर्थ्यविशेषात् तेषां वरशापप्रदानादिकं संगच्छते ॥ २४ ॥

उत्तर, सामर्थ्यविशेषादुपपत्तिः ॥ तपस्वियोंमे योगियोंमें तथा सिद्धपुरुषोंमें दूसरे साधारणलोकोंसे अधिक शक्ति होवे है यातें विशेष सामर्थ्य होनेसे उनका वरशापादि देना बनसकता है इति ॥ २४ ॥

तदभावे तपोवैयर्थ्यम् ॥ २५ ॥

क्रियाविलक्षणत्वं हि शक्तिविलक्षणे कारणं यदा तपस्विनां योगिनां च यमनियमादिरूपा साधारणजनविलक्षणा क्रिया भवति तदा तेषामितरजनविलक्षणेन सामर्थ्येनापि भवितव्यमेव सांसारिकविषयसुखपरित्यागपुरःसरमनिशं जपतपोध्यानादिषु प्रसक्तानां महात्मनां यदि साधारणजनेभ्यः किमपि विलक्षणं सामर्थ्यं न भवेत् तदा तु जपध्यानादिरूपस्य तपसो व्यर्थत्वमेव प्रसज्येत यद्यपि जपतपोध्यानादीनां मुख्यं

फलं जीवस्य मुक्तिरेव तथापि तदनुषंगित्वेन वरशा-
पप्रदानादयः सिद्धयोपि प्रादुर्भवंत्येव ये त्वाधुनिका
जपतपोध्यानादिकुर्वंतोपि जनाः सिद्धिविकला दृश्यंते
तेषु पुरुषार्थन्यूनत्वमेव कारणं बोद्धव्यमिति ॥ २५ ॥

तदभावे तपोवैयर्थ्यम् ॥ क्रियाका विलक्षणपणाहिं
तिनकी विलक्षणशक्तिमें कारणभूत होवे है जबकि यो-
गियों और तपस्वियोंकी यमनियमादिरूप क्रिया साधा-
रणलोकोंसे विलक्षण होती है तो तिनमे दूसरे लोकोंसे
सामर्थ्यभी विलक्षण होनी चहिये क्योंकि सांसारिक वि-
षयसुखका परित्याग करके निरंतर सर्वदा जप तप ध्या-
नादिकोंके परायण महात्मा पुरुषोंको दूसरे साधारणलो-
कोंसे जो कुछभी विशेष सामर्थ्य नहि होवे तो तिनका
जप ध्यानादि रूप तप सबी व्यर्थ होवेगा यद्यपि जप
तप ध्यानादिकोंका जीवकी मुक्ति होनीहि मुख्य फल
है तथापि तिसकी साथी होनेसे वरशापप्रदानादि सिद्धि-
यांभी स्वतः प्रगट होवे हैं और जो इस समयमे जप
तप ध्यान करते हूयेभी लोक सिद्धिसे रहित दीखते हैं
तो तिनमें पुरुषार्थकी न्यूनताहि कारण जाननी चहिये
इति ॥ २५ ॥

तदनुच शास्त्रस्य ॥ २६ ॥

'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरं, कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसा, औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः तपसैव प्रसिद्ध्यंति तपस्तेषांहि साधन' मित्यादि शास्त्रेषु योगस्य तपसश्च सिद्धिकारणत्वमुक्तं यदा च विधिपूर्वकं तपश्चरणादिना किमपीतरजनविलक्षणं सामर्थ्यं न जायेत तदा तदुपपादकस्य शास्त्रस्यापि व्यर्थत्वमेव प्रसज्येत तत्कर्तुश्चानृताभिधानेन वंचकत्वप्रसंगः स्यात् न चैतद्वेदादिप्रामाणिकवाक्येषु संगच्छते स्वार्थाभावात् तस्माद्वेदादिशास्त्रप्रामाण्यात्तपस्विनां योगिनां सिद्धानां च विलक्षणं सामर्थ्यं पुराणेषु श्रूयमाणं समंजसमेव ॥ २६ ॥

तदनुचशास्त्रस्य ॥ श्वेताश्वतरउपनिषत्में लिखा है कि योगरूप अग्निसें पकेहूये शरीरवाले योगीको रोग बुढापा और मृत्यु नहि होवे है इति तथा योगशास्त्रमे लिखा है (तप करनेसे शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि होवे है इति) तथा मनुस्मृतिमे लिखा है कि (दिव्य औषधियां निरोगता नानाप्रकारकी विद्या और नानाप्रकारकी दैवी श-

क्तिया यह सर्व वस्तु तप करनेसे सिद्ध होती हैं इति)
इत्यादि शास्त्रोंमें योग और तपको सिद्धिकी कारणता
कथन करी है तो जब विधिपूर्वक योग वा तप करनेसे
पुरुषको दूसरे साधारणपुरुषोंसे कुछभी विलक्षण सामर्थ्य
नहि होवे तो तिसके प्रतिपादन करनेहारे शास्त्रभी व्यर्थ
होजावेंगे तथा तिन शास्त्रोंके निर्माण करनेवालोंकोभी
असत्यभाषणसे वंचकपणेकी प्राप्ति होवेगी सो यह वार्ता
वेदादिप्रामाणिकवाक्योंमे नहि होसकती क्योंकि वेद शा-
स्त्रोंका स्वार्थी उपदेश नहि है यातें वेदादिशास्त्रोंके पुष्ट
प्रमाण होनेसे तपस्वियों योगियों और सिद्धपुरुषोंकी
विलक्षण सामर्थ्य जो पुराणोंमें सुननेमे आती है सो
ठीकहि है इति ॥ २६ ॥

यथा तपस्विनां योगिनां च सिद्धयः पुराणेषु श्रूयंते
तद्वत् क्वचित्तेषां धर्मविरुद्धाचरणत्वमपि पुराणेषु श्रूयते
यथा विश्वामित्रेण द्वेषबुद्ध्या वसिष्ठस्य पुत्रशतं विना-
शितं पराशरेण मुनिना कैवर्त्तकन्याभिगमनमकारि
चतुराननः स्वदुहितरमनुजगाम शिवोपि मुनिपत्नीनां
तत्पतिरूपेणाभिमर्षणं चक्रे कृष्णेनापि परयोषिद्वस्त्रा-
पहरणमकारि दुर्वाससोतिक्रोधित्वं नारदस्य चांतिचप-

लत्वमित्याद्यनेकस्थलेषु प्रसिद्धं तदेतद्विरुद्धाचरणं श्रू-
यमाणं कथं न लोकस्याचरणदूषकं स्यादिति चेत्

सामर्थ्यहेतुकत्वान्न प्रवर्त्तकत्वम् ॥ २७ ॥

शक्तिमान् यत्कर्म कुरुते तदेवाशक्तः कुर्वन् विन-
श्यति यथा लक्षव्ययेन राज्ञः किमपि न हीयते दरि-
द्रस्य तावताऽव्ययेन सर्वस्वमप्यपह्रियते यथा च जल-
कलशे सुराबिंदुर्न्यस्तो जलं दूषयति गंगाप्रवाहे सुरा-
कलशोपि प्रक्षिप्तो न प्रतीयते तद्वदेव जपतपोध्याना-
दिभिरुग्रकर्मभिरनल्पसुकृतसंचयवतां महात्मनां तप-
स्विनां क्वचित्प्रमादादवश्यं भावितया वा जातेनाल्पेन
पापकर्मणा न लेपो जायते नहि समिद्धेऽग्नौ शुष्कमार्द्रं
वा काष्ठशकलमुपन्यस्तमवशिष्यते यदि कश्चिदन्योपि
तादृशसामर्थ्योपेतः स्यात् तदा तु तस्य कदाचित्तत्र
प्रवृत्तिरपि जायेत सामर्थ्याभावे तु तच्छ्रवणमात्रेण
लोकानां प्रवृत्तिर्न संभवति तज्जन्यदोषनिवारणसा-
धनाभावात् मुनीनां तु तत्र तपोबलाद्दोषस्पर्शोपि
नाभूत् तथाचोक्तं पूर्वाचार्यैः 'धर्मव्यतिकरो दृष्ट ईश्व-
राणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्व-
भुजो यथे'ति तस्माद्बलवत्प्रारब्धकर्मयोगेनावश्यंभा-

वितया क्वचित्कदाचित् धर्मात्मनां महात्मनां शास्त्र-विरुद्धकर्मणि प्रवृत्तिः श्रूयते चेत् न लोकैस्तदनुकरणं विधेयम् ॥ २७ ॥

शंका । जैसे तपस्वियों और योगियोंकी सिद्धियां सुननेमे आती हैं तैसेहि तिनके कहीं कहीं पुराणोंमें धर्म-विरुद्ध आचरणभी सुननेमे आते हैं जैसे कि विश्वामि-त्रने द्वेषभावसे वसिष्ठमुनिके सौ पुत्रोंको मारदिया, परा-शरमुनिने नदीमें कैवर्तककी कन्यासे संभोग किया ब्रह्मा अपनी पुत्रीके पीछे भागा शिवने अपना रूप वदलके मुनियोंकी स्त्रियोंसे रमण किया कृष्णजीने गोपियोंके वस्त्रहरण किये दुर्वासा ऋषिका अत्यंत क्रोधीपणा नार-दमुनिका अत्यंत चपलपणा इत्यादि अनेक इतिहासोंमे ऋषि मुनियोंके धर्मविरुद्ध आचरण सुननेमे आते हैं सो उससे दूसरे लोकोंके आचरण क्यों नहि दूषित होवेंगे । समाधान ।

सामर्थ्यहेतुकत्वान्न प्रवर्त्तकत्वम् ॥ जो काम शक्ति-मान् पुरुष करे उसीको अशक्त पुरुष करनेसे नाशको प्राप्त होवे है जैसे राजाको लक्ष रुपया खर्च करनेसे कुछ हानि नहि होवे है और तिसके देखादेखी गरीव आदमी

वैसा करे तो उसका सर्वस्वहि नष्ट होजावे है तथा जैसे जलके घडेमें मदिराका एक बिंदु डालाहूयाभी संपूर्ण जलको खराब करदेवे है और गंगाके प्रवाहमे मदिराका संपूर्ण घडा डालनेसेभी कुछ मालूम नहि पडता है तैसेहि जप तप ध्यानादि उग्रकर्मोंकरके विशेष पुण्यके संचयवाले महात्मा तपस्वी लोकोंको कहीं भूलसे या अवश्य भावी प्रारब्धकर्मके योगसे अल्प पाप होजानेसे कुछ लेप नहि होवे है क्योंकि जैसे प्रज्वलित भई अग्निमें सूखा या गीला लकडीका टुकडा डालाहूया सब जल जावे है तैसेहि तिनके पाप जल जाते हैं जो कदाचित् कोई दूसरा पुरुषभी उन ऋषिमुनियों जैसा शक्तिवाला होवे तो कदाचित् तिसकी स्वतंत्राचरणोंमें प्रवृत्ति होवे भी परंतु केवल तिनके सुननेसेहि साधारणलोकोंकी विरुद्धाचरणोंमें प्रवृत्ति नहि संभवे है क्योंकि तिनके पास तिस पापजन्य दोषकी निवृत्ति करनेका कोई साधन नहि होवे है और ऋषिमुनियोंको तो तपकेबलसे दोषका स्पर्शभी नहि होता भया है तथा धर्मशास्त्रकाभी वचन है कि (समर्थ पुरुषोमें कहीं कहीं धर्मके विरुद्ध आचरण देखनेमे आया है परंतु तिनको दोष नहि लगता है जैसे " कि पवित्र अपवित्र सर्व वस्तु भक्षण करनेसे अग्निको

दोष नहि लगता है इति) यातें जो कदाचित् कहीं बलवान् प्रारब्ध कर्मके योगसे अवश्य होनहार कोई शास्त्रविरुद्ध आचरणोंमें धर्मात्मा महात्मा पुरुषोंकी प्रवृत्ति सुननेमे आवे है तो दूसरे लोकोंको तिनकी देखादेखी आचरण नहि करना चहिये इति ॥ २७ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ २८ ॥

महात्मनामुपदेशवचनानि तेषां धर्मविषयाणि चाचरणान्येव शिष्यवर्गैर्ग्रहीतव्यानि यानि च तेषां प्रारब्धयोगेन क्वचिदनुचितान्याचरणानि भवेयुस्तत्र दृष्टिपातो न विधेयः। तथोक्तं तैत्तिरीयोपनिषदि 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणीति' गुणदोषोपनिबद्धं हि किलेदं सर्वं जगत् तत्र गुणाधिक्यमेव पूज्यत्वकारणं बोध्यं सर्वदोषमुक्तस्तु जगदीश्वरएवातः श्रेयोभिलाषुकैर्देवानां महर्षीणां तपस्विनां धर्माचार्याणांच गुरूणां गुणेष्वेवानिशं मनो निधेयमिति ॥ २८ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ऋषि मुनि आदि महात्मा पुरुषोंके उपदेश वचनोंका तथा तिनके धर्मविषयक आचरणोंकाहि जिज्ञासु लोकोंको ग्रहण करना चहिये और जो

कोई प्रारब्ध कर्मके योगसे तिनके अनुचित आचरण होवें तो तिनकी तरफ ध्यान नहि देना चहिये तथा तैत्तिरीय उपनिषत्मे लिखा है कि (हे शिष्य जो हमारे अच्छे आचरण होवें तिनहिका तेरेको ग्रहण करना योग्य है दूसरोंका नहि इति ।) यद्यपि यह संपूर्ण जगत् गुण और दोषोंकरके भराहूया है परंतु इसमें पुरुषके गुणोंकी अधिकताहि श्रेष्ठपणेमें कारण होवे है क्योंकि सर्वथा कोई देहधारी निर्दोष नहि हो सकता है सर्व दोषोंसे रहित तो केवल परमेश्वरहि है यातें कल्याणकांक्षी पुरुषोंको देवतायोंके ऋषिमुनियोंके तपस्वियोंके धर्माचार्योंके और गुरुवोंके गुणोंमेंहि सर्वदा मनको लगाना चहिये उनके दोषोंकी तरफ नहि देखना चहिये इति ॥ २८ ॥

शिवपुराणे शिवस्यैवान्यदेवेभ्योऽतिशयो निरूपितः । विष्णुपुराणे विष्णोरेव देवीभागवते देव्याश्चेत्यादिकं कथं संगच्छते ।

स्तुतिभेदस्तूपासनार्थम् ॥ २९ ॥

यदिदं पुराणेषु पृथक् पृथक् शिवादिदेवानां माहात्म्यं निरूपितमस्ति तदुपासनार्थमेव विज्ञेयं सर्वव्यापकत्वेपीश्वरस्य शिवविष्णुशक्तिगणेशसूर्याभिधासु पंचसु

व्यक्तिषु विशेषतयाभिव्यक्तिर्वर्त्तते ततस्तेषामीश्वर-स्वरूपत्वेनैव सर्वत्र पुराणेषु स्तवनं विद्यते यथा पंच-मार्गं नगरमन्यतमेन मार्गेण गच्छन्नवाप्नोति तथैव शिवादिष्वेकव्यक्तिद्वारा परमेश्वराराधनं कुर्वन् जनो मोक्षपदमधिगच्छतीति बोद्धव्यम् ॥ २९ ॥

प्रश्न । शिवपुराणमे शिवजीकाहि सर्व दूसरे देवता-योंसे अधिकपणा कथन किया है और विष्णुपुराणमें विष्णुकाहि सबसें अधिकपणा कथन किया है तथा देवी-भागवतमें देवीकाहि वडापणा निरूपण किया है सो यह परस्पर विरुद्ध वार्ता कैसे संभवे है । उत्तर । स्तुतिभेद-स्तूपासनार्थम् ॥ पुराणोंमें जो यह भिन्नभिन्न शिवआदि देवतायोंकी स्तुति वर्णन करी है सो केवल उपासनाके लिये वर्णन करी है यद्यपि ईश्वर सर्वत्र व्यापक है तथा-पि शिव विष्णु शक्ति गणेश सूर्य इन पांच व्यक्तियोंमें तिसका विशेषकरके आविर्भाव रहता है इसीलिये तिन पांचोंकी सर्वत्र पुराणोंमे ईश्वररूपसेहि स्तुति करी है सो जैसे पांच मार्गवाले नगरको किसी एक मार्गद्वारा जानेसे पुरुष नगरमे पहुंच जाता है तैसेहि शिव विष्णु आदि एक व्यक्तिद्वारा परमेश्वरका आराधन करनेसे

जीव मोक्षपदको प्राप्त होजाता है ऐसा जानना चहिये इति ॥ २९ ॥

नान्यलघुत्वं प्रयोजनांतरत्वात् ॥ ३० ॥

यच्च शिवपुराणे शिवसकाशाद्विष्णोर्लघुत्वं विष्णुपुराणे शिवस्य लघुत्वं देवीपुराणे तयोरुभयोर्लघुत्वमित्येवं यदेकस्य स्तुतिप्रसंगेऽन्यदेवानां लघुत्वं पुराणेषु श्रूयते तत्तथा न मंतव्यं कुतः प्रयोजनांतरत्वात् तस्यान्यदेवप्रयोजनमस्ति 'न निंदानिंद्यं निंदितुं प्रवर्त्ततेऽपितु विधेयंस्तोतु' मिति न्यायेनैकस्य स्तुतिप्रसंगे यदन्यस्य क्वचिल्लघुत्वमुपवर्ण्यते तत्र तस्य लघुत्वप्रतिपादने प्रयोजनं न भवति किंतु प्रसंगपतितस्वाभीष्टस्य वस्तुनः स्तुतावेव प्रयोजनं भवति यथा त्वमेव महादानीति कश्चिद्विप्रो राजानं वदन्नेतरत्र दानित्वाभावमभिप्रैति किंतु समीपस्थनृपस्तवनार्थमेवैवं ब्रूते तद्वत्पुराणेष्वपि द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

नान्यलघुत्वं प्रयोजनांतरत्वात् ॥ तथा जो शिवपुराणमे शिवसे विष्णुका लघुपणा कथन किया है और विष्णुपुराणमें विष्णुसे शिवका लघुपणा कथन किया है तथा देवीभागवतमे देवीसे तिन दोनोंका लघुपणा कथन

किया है इसप्रकारसे एककी स्तुति प्रसंगमे जो दूसरे देवतायोंका लघुपणा पुराणोमें सुननेमें आवे है सो वैसा हि ठीक नहि समझलेना चहिये क्योंकि उसका दूसरा मतलब है शास्त्रका यह नियम है कि (एककी स्तुति करनेमें दूसरेकी निंदा करनेसे उसका निंदामे अभिप्राय नहि होवे है किंतु केवल स्तुतिवालेकी प्रशंसा करनेमेंहि उसका तात्पर्य होवे है इति) इस न्यायसे एककी स्तुति प्रसंगमे जो दूसरेका लघुपणा कथन किया है सो तिसमे उसके लघुपणेके प्रतिपादन करनेमे प्रयोजन नहि है जैसे कोई ब्राह्मण किसी राजाके पास जायकर कहे कि तुमहि वडे दानी हो तो इस जगामे ब्राह्मणका यह मतलब नहि है कि संपूर्ण जगत्मे और कोई दानी नहि है किंतु केवल समीपवाले राजाकी स्तुतिके अभिप्रायसे सो ऐसा कहता है तैसेहि पुराणोंमेभी समझना चहिये कि एक देवताके स्तुतिप्रसंगमे दूसरेको लघु कहनेसे उसका लघुपणा नहि होसके है इति ॥ ३० ॥

विष्णुशिवशक्तिगणेशसूर्यदशमहाविद्यारामकृष्ण-हनुमद्भैरवादीनां जगति पूज्यदेवतानामनेकत्वात् तदर्चाप्रकाराणामपि परस्परं विलक्षणत्वात् तदनुसारेण

तन्मतानां शास्त्राणां संप्रदायानां चाप्यनेकविधत्वात्कथमेकेन पुरुषेण तेषां सर्वेषामनुष्ठानं कर्तुं शक्यते तत्राह—

न पूज्यबहुत्वमेकान्वयात् ॥ ३१ ॥

यद्यपि प्रसंगवशेन पुराणेषु बहूनां देवानामर्चनं विहितं तथापि सर्वत्रहि पुराणेषु सम्यक्तयावलोकनेन विष्णोः शिवस्य चोभयोरेव विशेषतया पूज्यत्वमुपलभ्यते तत्रापि सर्वधर्मशास्त्रेषु विष्णोरेवाधिकं पूज्यत्वमुपवर्णितं 'आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् । सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति ॥ सर्वरत्नमयो मेरुः सर्वाश्चर्यमयं नभः । सर्वतीर्थमयी गंगा सर्वदेवमयो हरि' रिति वचनात् यद्येवमखिलपुराणानां धर्मशास्त्राणां चांततो भगवति विष्णावेवान्वयो दृश्यते तस्मान्न पुराणेषु बहुदेवतापूजनमनुज्ञायते ततः केवलं प्रसंगवशात्कार्यवशाद्वान्यदेवानां विष्णोरंगतयैव पूजनं युक्तं मुख्यंतु विष्णोरेवैकस्याराधनं कर्त्तव्यं 'रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम् । एषा सा वैष्णवीमाया महाकाली दुरत्यया ॥' इति महाभारतमोक्षधर्मवाक्येन दुर्गारहस्यवाक्येनच

शिवशक्त्यादेर्विष्णोरभेदात् शिवशक्त्याद्युपासकैरपि विष्णोरेवाराधनं कर्तुं युक्तम् ॥ ३१ ॥

प्रश्न, विष्णु शिव शक्ति गणेश सूर्य दश महाविद्या राम कृष्ण हनुमान् भैरव इत्यादि अनेक पूज्यदेवता पुराणादिकोंमे प्रसिद्ध हैं और उनके पूजनके प्रकारभी परस्पर भिन्न हैं तथा तिसके अनुसार तिनके मत शास्त्र और संप्रदायभी अनेकप्रकारके हैं सो एकपुरुष करके इन सबोंका अनुष्ठान कैसे संभवे है । उत्तर, न पूज्यबहुत्वमेकान्वयात् ॥ यद्यपि प्रसंगवशसे पुराणोंमें बहुतसे पूज्य देवता कथन किये हैं तथापि सम्यक् प्रकारसे पुराणोंमें विचार करके देखनेसे विष्णु और शिव इन दोनोंकाहि विशेषकरके पूज्यपणा प्रतीत होवे है तिनमें भी मनु याज्ञवल्क्य आदि सर्वधर्मशास्त्रोंमे विष्णुकाहि विशेष करके पूज्यपणा निरूपण किया है तथा व्यासजीका वचन है कि (जैसे वर्षाका जल सर्वतरफसे मिलकें अंतमे समुद्रमे जाता है तैसेहि दूसरे सर्व देवतायोंको किया हूया नमस्कार विष्णुको पहुंचता है और जैसे सुमेरुपर्वत सर्व रत्नमय है और आकाश सर्व आश्चर्यरूप है और गंगा सर्व तीर्थरूप है तैसेहि विष्णु सर्वदेवतारूप है) इति । सो इसप्रकारसे सर्वपुराणों और

धर्मशास्त्रोंका केवल एक विष्णुभगवान्के पूजनमेंहि अभिप्राय प्रतीत होवे है यातें पुराणोमें वहुत देवतायोंके पूजनकी अनुज्ञा नहि है किंतु केवल किसी प्रसंग वशसे या किसी कार्यके निमित्तसे विष्णुके अंगरूपसेहि दूसरे देवताओंका पूजन करना चहिये मुख्य तो एक विष्णु भगवान्का अर्चन पूजन और आराधन करनाहि योग्य है महाभारतके मोक्षधर्म पर्वमे लिखा है कि (शिव और विष्णु यह दोनों एकहि स्वरूपके दो भेद हैं) इति तथा देवीरहस्यमे लिखा है कि (यह जो वडीवलवान् महा-काली देवी है सो विष्णुकी माया शक्ति है) इति ॥ सो इत्यादि वाक्योंसे विष्णुसे शिवशक्तिका अभेद हो-नेसे शिवशक्तिआदिके उपासकोंको भी विष्णुकाहि आ-राधन करना योग्य है इति ॥ २१ ॥

कथाविरोधइति चेन्नान्यार्थत्वात् ॥ २२ ॥

या कथैकरूपेणैकपुराणे निरूपिता सैवान्यपुराणेऽन्यरूपेणोपवर्णिता ततोप्यन्यत्रान्यरूपेण निरूपिता भूगोलादिपदार्थविषयाणांच्च कुत्रचित्केन रूपेण वर्ण-नमन्यत्रान्यरूपेण वर्णनमित्येवं पुराणेषु परस्परं विरु-द्धाभिधानं वर्त्तते तत्कथं तेषां धर्मनिर्णये प्रामाण्यं

भवेदिति चेत् नैवमत्राशंकनीयं कुतः पुराणकथानां कथानिरूपणे प्रयोजनं नास्ति तास्तु केवलं धर्मोपदेशार्थमेव पुराणेषूपवर्णिताः संति नहि व्यासादीनां मुनीनां यथार्थकथानिरूपणेऽभिप्रायोऽभूत् किंतु यत्र यावन्मात्रं प्रसंगोपगतमुपदेशोपयोग्यभवत् तावदेव तत्रतत्रोपवर्णितमतः कथा यथार्था अयथार्था वेति न चिंतनीयं कथाविरोधेपि वक्तव्यार्थाविरोधान्न कथानां शंकास्पदत्वं भवितुमर्हति प्रयोजनांतरत्वात् वक्तुः प्रयोजनमेवहि वाक्यस्यार्थो भवत्यतः क्वचिद्विरोधेप्युपदेशपरत्वात्पुराणकथानामनवद्यत्वमवसेयम् ॥ ३२॥

कथाविरोधइतिचेन्नान्यार्थत्वात् ॥ जो कथापुराणोंमे एक जगा एकरूपमे लिखी है सो दूसरी जगा दूसरे पुराणमें अन्य प्रकारसे लिखी है तथा अन्यपुराणमें और प्रकारसे लिखी है तथा भूगोलादि पदार्थोंका किसी जगा कैसा वर्णन किया है दूसरी जगा दूसरे प्रकारसे निरूपण किया है इसप्रकार पुराणोंमें कथाप्रसंगोंमे परस्पर विरुद्धता देखनेमें आवे है तो तिनका धर्मनिर्णयमे प्रमाणपणा कैसे संभवे है इसप्रकारकी पुराणोंकी कथायोंमे शंका नहि करनी चहिये क्योंकि पुराणोंकी कथायोंका व्यवहारिक कथायोंके निरूपण करनेमे प्रयोजन नहि है

तिनका तो केवल धर्मोपदेशके लिये पुराणोंमें वर्णन किया हूया है व्यासादिक मुनियोंका लौकिक कथायोंके यथार्थ निरूपण करनेका अभिप्राय नहि था इसलिये जितनी जितनी जहां प्रसंगमे उपदेशकी उपयोगी वार्ता थी उतनीहि तहां वर्णन करी है यातें कथा यथार्थ हैं कि अयथार्थ हैं इस वात का विचार नहि करना चहिये सो कथायोंके विरोध होनेपरभी उपदेशमे विरोध नहि होनेसे कथायोंमे शंका करनी उचित नहि है क्योंकि उनका दूसरा प्रयोजन है वक्ताका प्रयोजनहि वाक्यका अर्थ ठीक होवे है यातें पुराण कथायोंमे क्वचित् विरोध होनेपरभी उनका उपदेशरूप प्रयोजन ठीक होनेसे निर्दोषपणा समझना चहिये इति ॥ ३२ ॥

सारग्रहणमुपकारित्वात् ॥ ३३ ॥

यतः सर्वासां पुराणकथानामुपदेशएव मुख्यं तात्पर्यमस्त्यतः श्रेयोभिलाषिभिर्जनैस्ततः सारस्यैव ग्रहणं कर्त्तव्यं न कथास्वेव मनो निधेयं सर्वपुराणकथाप्रसंगेषु यानि सदुपदेशवचनानि यानि च व्यासवसिष्ठविश्वामित्रादीनां मुनीनां सच्चरितानि रामरघुशिविभीष्मयुधिष्ठिरादीनांच राज्ञां यानि धर्मविष-

याणि चेष्टितानि तेषां सर्वेषां सारभूतस्योपदेशस्यैव विवेकिभिर्नरैर्ग्रहणं करणीयं नवीनानां धर्माचरणाभिलाषुकाणांहि किल पूर्वेषां धर्मात्मनामुपदेशवचनान्याचरणानिच धर्माचरणे मार्गप्रदर्शकत्वादुपकारीणि भवंतीति ॥ ३३ ॥

सारग्रहणमुपकारित्वात् ॥ जिसलिये उक्तप्रकारसे सब-पुराणकथायोंका उपदेशमेहि मुख्यतात्पर्य है तो कल्याणाकांक्षि पुरुषोंको तिनमेसे सारकाहि ग्रहण करना चहिये कथायोंकी रचनामेहि ध्यान नहि देना चहिये सब पुराण कथाप्रसंगोमें जोजो सत्यधर्मोपदेशके वचन है और जो व्यास बसिष्ठ विश्वामित्र आदि ऋषियोंके श्रेष्ठ चरित्र हैं तथा जो राम रघु शिबि भीष्म युधिष्ठिर आदि राजा-योंके धर्मविषयक श्रेष्ठ आचरण हैं तिन सबोंका सारभूत जो उपदेश है तिसकाहि विवेकी पुरुषोंको ग्रहण करना चहिये क्योंकि नवीन धर्मके आचरण करनेवालोंको पूर्वके धर्मात्मायोंके उपदेश वचन और तिनके श्रेष्ठ आचरण धर्माचरणका मार्ग दिखलानेसे बहुत उपयोगी होते हैं इति ॥ ३३ ॥

अन्यत्राप्येवमन्यत्राप्येवम् ॥ ३४ ॥

पुराणेभ्योन्यान्यपि यानि पुस्तकानि धर्मोपदेशयुक्तानि गीर्वाणभाषया लौकिकभाषयावोपनिबद्धानि भवेयुस्तेषामपि सारभूतस्योपदेशस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं नवीनानि लघून्यसर्वज्ञनिर्मितान्यनार्षाण्येतानीत्येवं तेषामनादरो नैव कर्त्तव्यः नहीश्वरसृष्टावयं नियमोस्ति पूर्वेषामेव बुद्धिशालित्वं भवेन्नापरेषां सर्वत्र सर्वदा सर्वस्येश्वरेच्छया सर्ववस्तुनः सुलभत्वात् तथाच नीतिविदां वचनं 'युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि । अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मने'ति तस्मात्सद्धर्मोपदेशयुक्तानि सर्वाण्यपि पुस्तकानि सज्जनैरादरणीयानीतिवीप्सापादसमाप्त्यर्थौ ॥ ३४ ॥

इति श्रीधर्मानुशासने द्वितीयः पादः

अन्यत्राप्येवमन्यत्राप्येवम् ॥ पुराणोंके सिवाय और भी जोजो धर्मोपदेशयुक्त पुस्तक हैं सो संस्कृत अथवा लोकभाषामें रचे हों तिनमेसेभी सारभूत उपदेशका ग्रहण करना चहिये यह पुस्तक नवीन हैं छोटे हैं असर्वज्ञजीवोंके रचेहूये हैं ऋषिकृत नहि हैं इस प्रकार तिनका निरादर नहि करना चहिये क्योंकि ईश्वरकी सृष्टिमे ऐसा कुछ नियम नहि है कि पहलेके पुरुषहि बुद्धिमान होते

थे अवके नहि होते किंतु ईश्वरकी इच्छासे सर्वकालमें सर्व जीवोंको सर्वत्र सर्ववस्तु सुलभ होसकती है तथा नीतिशास्त्रकाभी वचन है कि (जो वचन युक्तिकरके संयुक्त होवे तो सो बालकसेभी ग्रहण करलेना चहिये और जो युक्तिसे रहित होवे तो साक्षात् ब्रह्माका कह्या हूयाभी नहि मानना चहिये इति) यातें सत्य धर्मोपदेशयुक्त सबी पुस्तकोंका विवेकी पुरुषोंको आदर करना योग्य है इति ॥ २४ ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य ब्रह्मानंदस्वामिविरचिते धर्मानुशासने द्वितीयः पादः ॥

कोसौ वैदिको धर्मः कतिच तस्य भेदाः कथंच तदनुष्ठानमित्येतदर्थमिदमारभ्यते

आध्यात्मिकादित्वाद्धर्मत्रैविध्यम् ॥ १ ॥

त्रिविधोहि धर्मो वेदे निरूपितः आध्यात्मिकः आधिदैविकः आधिभौतिकश्च सर्वेपि धर्मास्त्रिष्वेवांतर्भवंतीति विज्ञेयं विधिनैकोपि किलैतेषु सम्यगनुष्ठितो जीवस्य कल्याणाय कल्पते समुच्चितानां त्रयाणामनुष्ठानेतु किमु वक्तव्यम् ॥ १ ॥

वैदिकधर्म कौनसा है उसके कितने भेद हैं और तिसका अनुष्ठान किसप्रकारसे होवे है इस वार्ताके निर्णय करनेके लिये अब तीसरे पादका प्रारंभ करते हैं। आध्यात्मिकादित्वाद्धर्मत्रैविध्यम् ॥ वेदमें तीन प्रकारका धर्म निरूपण किया है प्रथम आध्यात्मिक दूसरा आधिदैविक और तीसरा आधिभौतिक इन तीनोंमेंहि सर्वधर्मोंका समावेश होवे है इनमेसे एकभी विधिपूर्वक अनुष्ठान किया हूया जीवके कल्याणका हेतु होवे है और जो तीनोंका मिलायकर अनुष्ठान किया जावे तो फिर क्या कहना है इति ॥ १ ॥

आध्यात्मिकोयोगः ॥ २ ॥

तत्राध्यात्मिको धर्मो योग इत्युच्यते 'युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित' इति वेदवचनात् (यजुः अ. ११ मं. ४) योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति योगशास्त्रानुसारेण च योगस्य चित्तधर्मत्वादाध्यात्मिकत्वं युक्तमेव ॥ २ ॥

आध्यात्मिको योगः ॥ तिनमें प्रथम आध्यात्मिक धर्म योगको कहतेहैं (विप्रलोक मनको और बुद्धिको ध्यानमें जोडकर सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमात्माका अर्चन करते हैं

इति) इस यजुर्वेदके वचनसे तथा (चित्तकी वृत्तियोंके निरोध करनेका नाम योग है इति) इस पतंजलिके सूत्रसे योगाभ्यास चित्तका धर्म होनेसे आध्यात्मिक धर्म कहिये है इति ॥ २ ॥

यमादिभेदात्सोऽष्टावयवः ॥ ३ ॥

तस्य योगस्य यमो नियम आसनं प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानं समाधिरित्येतान्यष्टावंगानि भवंति अंगीभूतस्तु निर्विकल्पः समाधिरिति बोद्ध-व्यम् ॥ ३ ॥

यमादिभेदात्सोऽष्टावयवः ॥ तिस योगके यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि इसभेदसे आठ अंगहैं और निर्विकल्पसमाधिको अंगीभूत जानना चहिये इति ॥ ३ ॥

अहिंसादयः पंच यमाः ॥ ४ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमपरिग्रह इत्येते पंच यमा इत्युच्यंते तत्राहिंसा मनोवाक्कर्मभिः सर्वदा सर्वप्राणिनामक्लेशजननं सत्यं यथादृष्टमनुमितं श्रुतं वा भवेत्तथैवान्यत्र शुद्धमनसाभिधानं अस्तेयं पर-द्रव्याणां विना तत्स्वाम्यनुज्ञामनंगीकरणं ब्रह्मचर्य-

मुपस्थेन्द्रियनिग्रहः अपरिग्रहः निरुपयोगिनानावि-
धपदार्थानामसंचय इत्येते यमा योगाभिलाषिभिरादा-
वेवानुष्ठेया इति ॥ ४ ॥

अहिंसादयः पंचयमाः ॥ तिनमें अहिंसा सत्य अस्तेय
ब्रह्मचर्य अपरिग्रह यह पांच यम कहिये हैं मन वचन शरी-
रकरके किसी प्राणिको कदाचित्भी जो दुःख नहि देना है
सो अहिंसा कहिये है और जैसा सुना देखा या अनुमान
किया हूया हो उसीप्रकार शुद्धमनसे जो दूसरेके प्रति कथन
करना है सो सत्य कहिये है और स्वामीकी आज्ञाकेविना
किसीके द्रव्यादिका जो ग्रहण नहि करना है सो अस्तेय
कहिये है तथा गुह्यइन्द्रियका जो निग्रह करना है सो
ब्रह्मचर्य कहिये है और निरुपयोगी बहुतसे पदार्थोंका
जो संचय नहि करना है सो अपरिग्रह कहिये है सो
यह पांच प्रकारके यम योगके अभिलाषी पुरुषोंको प्रथम
सेवन करने योग्य हैं इति ॥ ४ ॥

शौचादयो नियमाश्च ॥ ५ ॥

शौचं संतोषस्तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानं चेत्येते
पंच नियमा इत्युच्यंते तत्र शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यंतरं
च बाह्यं मृज्जलादिसाध्यमाभ्यंतरं चाचमनप्राणायाम

मेध्याशनमनःशुद्ध्यादिजन्यं संतोषः प्रारब्धानुसारेणोपागतेषु भोगसाधनेष्वेव तृप्तिः तपः कृच्छ्रचान्द्रायणपराकादि व्रतानामुपसेवनं स्वाध्यायो गायत्रीप्रणवादिपवित्रमंत्राणां जपो गीतोपनिषदादिमोक्षशास्त्राणामध्ययनं च ईश्वरप्रणिधानं सर्वजगतामधिपतेः सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतः सच्चिदानंदविग्रहस्यपरमेश्वरस्यैकाग्रेण मनसा सर्वगत्वेन सततमनुच्चिंतनमित्येते नियमाश्चापि योगसिद्धये योगिभिर्नित्यमनुशीलनीयाः ५

शौचादयो नियमाश्च ॥ शौच संतोष तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इस भेदसे नियमभी पांच प्रकारके हैं तिनमें आंतर और बाह्यभेदसे शौच दो प्रकारका है जलमृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धि करनेको बाह्यशौच कहते हैं और आचमन प्राणायाम पवित्र भोजन शुभविचारादिसे जो मनकी शुद्धि है सो आंतरशौच कहिये है प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त भये भोगपदार्थोंमें जो मनकी तृप्ति है सो संतोष कहिये है कृच्छ्रचांद्रायणपराकादि व्रतोंका जो सेवन करना है सो तप कहिये है गायत्रीप्रणवादि पवित्र मंत्रोंका जपना और मोक्षविषयक शास्त्रोंका जो अध्ययन करना है सो जप कहिये है और सर्व जगत्के अधिपति

सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सच्चिदानंदस्वरूप परमेश्वरका एका-
ग्रमनसे सर्वव्यापकभावसे जो निरंतर चिंतन करना है
सो ईश्वरप्रणिधान कहिये है सो यह पांच नियमभी योग-
सिद्धिकेलिये योगाभ्यासी पुरुषोंको अवश्य नित्य पालन
करने चहिये इति ॥ ५ ॥

सिद्धाद्यासनम् ॥ ६ ॥

सिद्धासनं पद्मासनं वीरासनं स्वस्तिकासनमित्या-
दीन्यासनानि योगसाधकैरवश्यमभ्यसनीयानि नह्या-
सनस्थैर्यं विनायोगो भवितुमर्हति शरीराचलत्वे हि
चित्तस्याचलत्वं जायते तस्मात् शनैः शनैस्तावदा-
सनाभ्यासं वर्द्धयेद्यावदेकप्रहरपर्यंतमेकस्मिन्नेवासने
सुखेनासीनः स्यात् ॥ ६ ॥

सिद्धाद्यासनम् ॥ सिद्धासन पद्मासन वीरासन और
स्वस्तिकासन इत्यादि अनेक प्रकारके आसन हैं तिनमें
बायें पेरकी एडीको गुदा और लिंगके बीचमें मध्यभागमें
स्थापनकरके दहने पांवको बायें ऊरुपर धरणेसे सिद्धासन
होवे है और दहने पांवको बायें ऊरुपर धरना और फिर
बायें पावको दहने ऊरुपर धरना सो पद्मासन कहिये है

और बायें पांवको दहने ऊरुके नीचे धरकर फिर दहने पांवको बायें ऊरुके ऊपर धरनेसे वीरासन होवे है तथा दहने पांवको बायें जानुके अंदर रखना और बायें पांवको दहने जानुके अंदर धरना सो स्वस्तिकासन कहिये है इत्यादि अनेक आसन योगशास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं सो योगाभिलाषी पुरुषोंको प्रथम आसनका अवश्य अभ्यास करना चहिये क्योंकि आसनकी स्थिरता बिना योगका अभ्यास नहि होसके है शरीरके अचल होनेसेहि चित्तका अचलपणा होसके है यातें जबतक एक प्रहरपर्यंत एकहि आसनमे सुखसे बैठसके तबपर्यंत आसनका अभ्यास करना योग्य है इति ॥ ६ ॥

पूरककुंभकरेचकाः प्राणायामः ॥ ७ ॥

आसनजयादनंतरं पूरककुंभकरेचकात्मकं प्राणायामं समभ्यसेत् तत्र वामनासिकाद्वारा बाह्यस्य वायोरुदरे पूरणं पूरकः पूरितस्य तस्योदरे यथाशक्तिस्तंभनं कुंभकः कुंभितस्य वायोः पुनर्दक्षिणनासिकाद्वारा बहिर्विरेचनं रेचकः तदेतत्त्रयं मिलित्वैकः प्राणायामो भवति त्रिष्वेतेषु प्रणवस्य गायत्र्या वा यथाशक्ति मनसा जपः कर्त्तव्यः। तथाच योगविदां वचनं (इडया पिब

पवनं षोडशभिश्चतुरुत्तरषष्टिकमौदरकम् त्यज पिंगलया शनकैः शनकैर्दशभिर्दशभिर्दशभिर्द्व्यधिकैरिति प्राणरथारूढं हि मनः प्राणचलने चंचलं भवति प्राणानां स्थैर्यं तु छिन्नपक्षः खग इवेतस्ततः परिभ्रमणं विहाय स्थिरं भवति यथाच वह्नौ निःक्षिप्तं कांचनं धमनेन सर्वतो निर्मलं जायते तथैव प्राणायामाभ्यासेनेन्द्रियाणां समस्तदोषनिर्हरणं प्रजायते ततः मनसः स्थैर्येणेन्द्रियाणां च निर्मलत्वेनानायासेनैव योगिनो योगपदमारोहंति ततः प्राणायामस्याभ्यासो योगेप्सुभिरवश्यं विधिना विधेय इति ॥ ७ ॥

पूरककुंभकरेचकाः प्राणायामः ॥ आसनसिद्ध होनेके पीछे पूरक कुंभक रेचकरूप प्राणायामका अभ्यास करना चहिये तिनमें बाह्यवायुका वामनासिकाद्वारा जो उदरमें भरणा है सो पूरक कहिये है और पूर्ण कियेहूये तिस वायुको यथाशक्ति जो उदरमे स्तंभन करना है सो कुंभक कहिये है तथा कुंभक कियेहूये प्राणवायुका जो फिर दहनी नासिकाद्वारा बाहिर छोडना है सो रेचक कहिये है सो यह पूरक कुंभक रेचक तीनों मिलकर एक प्राणायाम होवे है इन तीनोंमें ओंकार अथवा गायत्रीका यथाशक्ति मनसे

जप करना चहिये तथा योगविद्याके जाननेहारे पूर्वके विद्वानोंकाभी वचन है कि (इडानाडीसे सोलांवार ओंकारका जपकरके प्राणका पूरक करे और चौसठवार ओंकारका जपकरके कुंभक करे तथा बत्तीसवार ओंकारका जप करके फिर प्राणवायुको धीरे धीरे रेचन करदेवे इति। प्राणरूपी रथके ऊपरहि मन आरूढ रहता है सो प्राणके चलनेसे चंचल रहता है और जब प्राण स्थिर होजाता है तो कटेहूये पंखवाले पक्षीके समान मनभी इधरउधर भटकना छोडकर स्थिर होजाता है तथा जैसे अग्निमें तपेहूये सुवर्णका सब मल दूर होजाता है तैसेहि प्राणायामके अभ्याससे इन्द्रियोंके संपूर्ण दोष दूर होजाते हैं सो इसप्रकार मनकी स्थिरतासे और इन्द्रियोंकी निर्मलतासे अनायाससेहि योगीलोक योगसिद्धिको प्राप्त होते हैं यातैं योगाभिलाषी पुरुषोंको प्राणायामका अभ्यास विधिपूर्वक करना योग्य है इति ॥ ७ ॥

प्रत्याहारोऽक्षजयः ॥ ८ ॥

अक्षाणां चक्षुरादीन्द्रियाणां यद्वशीकरणं तत् प्रत्याहार इत्युच्यते (पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नांतरात्मन्' इति श्रुतिवचनानुरोधे-

न्द्रियाणां स्वभावादेव बाह्यविषयेषु पतनं भवति जन्म-
जन्मांतराभ्यासेन पुष्टश्चायं स्वभावस्तेषां न सहसा
निवारयितुं शक्यस्ततः शनैः शनैरेवैकांतवासाल्पा-
शनविषयसंगवर्जनसच्छास्त्रविचारादिभिरुपायैरि-
न्द्रियाणां वशीकरणं कार्यं पूर्वापरविमर्शमंतरेण युग-
पद्विषयपरित्यागेन वैराग्याश्रयणे तु पुरुषस्य पुनः
पतनभयं संभाव्यते ततः क्रमेणैवेन्द्रियजयो विधेयः
प्रायेणेन्द्रियाणि हि मनश्चपलं कुर्वंति शरीरविक्षेपं च
जनयंति स्वस्वविषयोपलब्ध्यर्थं मनः शरीरं च प्रेरयि-
त्वा स्थैर्यात्प्रच्यावयंत्यतस्तेषां निग्रहणं योगिनां पर-
मावश्यकं तद्विना योगसिद्धेर्दुर्लभत्वात् जितेन्द्रियस्य
तु स्वभावत एव मनः शांतं भवति ततः सत्वरमेव
योगस्य सिद्धिः प्रजायत इति ॥ ८ ॥

प्रत्याहारोऽक्षजयः ॥ श्रोत्र चक्षु आदि इन्द्रियोंको जो
अपने वशमे करना है सो प्रत्याहार कहिये है (परमे-
श्वरने इन्द्रियोंको बहिर्मुखवाली रचा है इसलिये सो
सर्वदा बाहिर विषयोंमेंहि दौडती हैं अंतरात्माको नहि
देखती हैं इति) इस कठ उपनिषत्के वाक्यके अनुसार
इन्द्रियोंका स्वभावसेहि बाह्यविषयोंमें पतन होवै है और

जन्मजन्मांतरोंसे तिनका यह स्वभाव वडा पुष्ट होरहा है सो शीघ्रहि निवारण नहि होसके है यातें एकांतवास करना अल्पभोजन करना विषयोंके संगका त्याग करना सत्शास्त्रोंका विचार करना इत्यादि उपायोंकरके धीरे धीरे इन्द्रियोंका वशीकरण करना चहिये और पूर्वापर विचारके विना एकदम सर्व विषयोंका परित्याग करके वैराग्यका आश्रय करनेमे तो फिर कवी पडजानेका भय रहता है यातें क्रमसेहि इन्द्रियोंका जय करना योग्य है प्रायः करके इन्द्रियांहि मनको चंचल करती हैं और शरीरमे विक्षेप उत्पन्न करती हैं अपने अपने विषयकी प्राप्तिके लिये मन और शरीरको प्रेरण करके स्थिरतासे गेराय देती हैं यातें तिनका निग्रह करना योगियोंको परम आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियोंके निग्रहविना योगकी सिद्धि होनी दुर्लभ है और जितेन्द्रियपुरुषका तो स्वतः हि मन शांत होजाता है तो फिर शीघ्रहि योगकी सिद्धि होवेहै ॥ ८ ॥

उक्तान्येतानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारा-भिधानानि योगस्य पंचबहिरंगानि साधनानि एतेषां-योगसाधने सहकारित्वाद्बहिरंगत्वं धारणादित्रयं च योगस्यांतरंगं साधनं तदुच्यते

चित्तस्यैकत्र रोधो धारणा ॥ १ ॥

सततं सर्वत्र प्रसरणशीलस्य चित्तस्य सर्वतस्तत-
स्ततः पदार्थेभ्यो निरुद्ध्यैकत्रस्थापनं धारणेत्युच्यते
यथारण्ये स्वतंत्रचारिणो मत्तगजेन्द्रस्य युक्त्या निग्र-
हणं क्रियते तद्वन्मनोपि युक्त्या विना न सहसा वश-
मायाति 'देशबंधश्चित्तस्य धारणा' इति योगशास्त्रानु-
सारेणैकस्मिन्देशे प्रथमतश्चित्तस्य बंधनमभ्यसेत् देशा-
श्च शरीराभ्यंतरे मूलाधारं नाभिचक्रं हृदयकमलं भ्रुवो-
र्मध्यं नासिकाग्रं चेत्यादयः शरीराद्बहिश्च वृक्षशाखा
पर्वतशिखरं ध्रुवादिनक्षत्रं मसीबिंदुर्दीपकश्चेत्यादयः ।
यथानुकूलमेतेषु स्थानेष्वेकस्मिन् क्रमेण चित्तस्य स्था-
पनमभ्यसेत् स्थापितमपि चंचलस्वभावत्वाद्यदि चित्त-
मितस्ततोव्रजेत् तदा ततस्ततो निरोधनं कृत्वा पुनर्धार-
णास्थाने स्थापनीयमित्येवं विधिना क्रमेणाभ्यस्यमाना
धारणाकालेन स्थिरत्वमायाति धारणाजयेन च योगि-
नश्चित्तं सुशिक्षितवाजीवाखिलयोगमार्गेषु सरलतया
प्रधावति ततश्चाणिमादियोगसिद्धीनामधिकारः सं-
जायते धारणायामेव सर्वयोगस्य निर्भरत्वं विज्ञेयं
तदभावे तु न ध्यानं न चापि समाधिरुपजायते तस्मा-

योगसिद्ध्यभिलाषुकैरप्रमादपूर्वकं यत्नेन सा संपादनी येति ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार यह पांच योगके सहकारी होनेसे बहिरंग साधन कहलाते हैं अब धारणा आदि जो योगके अंतरंग साधन हैं तिनका निरूपण करते हैं (चित्तस्यैकत्ररोधो धारणा ॥ निरंतर सर्वत्र फैलनेवाले चित्तको तहां तहां सर्व पदार्थोंसे रोककरके जो एकस्थानमें स्थापन करना है सो धारणा कहिये है जैसे बनमें स्वतंत्र विचरणेवाला मत हाथी युक्तिसे निग्रह होवे है तैसेहि मनभी युक्तिकेविना शीघ्र वशमे नहि आता (एकदेशमे चित्तके रोकनेको धारणा कहते हैं इति) इस पतंजलिसूत्रके अनुसार प्रथम किसीएक स्थानमें चित्तको रोकनेका अभ्यास करे सो स्थानशरीरमे तथा बाहिरमे दो प्रकारके हैं तिनमे मूलाधार नाभिचक्र हृदयकमल भ्रूमध्य नासिकाग्र इत्यादि शरीरके हैं और वृक्षकी शाखा पर्वतका शिखर ध्रुव आदि तारे स्याहीकी विंदु दीपक इत्यादि बाहिरके हैं इनमेसे किसीएक स्थानमे अपनी अनुकूलताके अनुसार क्रमसे चित्तके स्थापनका अभ्यास करना चहिये इस प्रकार स्थापन कियाभी चंचल स्वभाव

होनेसे जो मन इधरउधर जावे तो तिसको तहांतहांसे रोककरके फिर धारणादेशमें स्थापन करे इस रीतिसे विधिपूर्वक क्रमसे अभ्यास करनेसे धारणा स्थिर होवेहै और धारणाके जय होनेसे सुशिक्षित घोडेकी न्यांई योगीका चित्त सर्वयोगके मार्गोंमें सरल हूया दौडता है तो तिस कालमें योगीको अणिमादि सिद्धियोंका अधिकार होवे है धारणामेंहि योगका संपूर्ण आधार जानना चहिये क्योंकि तिसके ठीक नहि होनेसे ध्यान और समाधि दोनोंहि सिद्ध नहि होसके हैं यातें योगसिद्धिकी अभिलाषावाले पुरुषोंको प्रमादसे रहित होकर यत्नसे धारणाको सिद्ध करना योग्य है इति ॥ ९ ॥

तत्स्थैर्यं ध्यानम् ॥ १० ॥

तस्या धारणाया या स्थिरावस्था सैव ध्यानमित्युच्यते कमप्येकं देशमवलंबनीभूतं कृत्वा तत्राभ्यस्यमाना धारणा यदि विच्छिद्य विच्छिद्य जायते तावत्साधारणेत्युच्यते यदा तु तस्यां धारणायामुपरक्तं मनस्तैलधारावदेकाकारेणाचलं संलग्नं भवति तदा तद्ध्यानमित्यभिधीयते धारणैव परिपक्वावस्थायां ध्यानत्वेन परिणमते तदिदं ध्यानं सगुणनिर्गुणभेदेन द्वि-

विधं योगिभिरुदीरितं तत्र स्वहृदयपंकजे मनोनिर्मितकांचनसिंहासनोपरि विराजमानस्य कोटिसूर्यसमप्रभस्य भगवतो विष्णोर्यत्पादमारभ्य शिरोवधि सवसनं सालंकारं सायुधं सपरिवारं चेतसानुचिंतनं तत्सगुणध्यानमित्युच्यते यच्च स्वहृदयविवरे भ्रुवोर्मध्ये वा प्रदीपकलिकाकारं ज्योतिर्मयं दिव्यप्रकाशं सूर्यचंद्रादिज्योतिषामाप्यायनं ब्रह्मणः स्वरूपं चिंत्यते तन्निर्गुणध्यानमित्युच्यते अनेन ध्यानेनैव योगिनो दिव्यगुणान् संपादयंति ध्यानबलेनैव च मुनयोऽखिलं विश्वं करामलकवदवलोकयंति 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इत्यादिश्रुतिवचनात् ध्यानेनैव च योगिनां ज्योतिर्मयस्य ब्रह्मणो दर्शनं जायत इति ॥ १० ॥

तत्स्थैर्यं ध्यानम् ॥ तिस धारणाकी जो स्थिर अवस्था है उसीको ध्यान कहते हैं किसीएक स्थानको लक्ष्य करके तिसमें धारणा करनेसे जवतक चित्तकी वृत्ति वीचमें टूट टूट कर लगे तो तवतक सो धारणा कहिये है और जव तिस धारणा स्थानमे लगाहूया मन तेलधाराकी न्यांई एकाकारसे अचल स्थिर होजावे है तो सो ध्यान कहिये

है अर्थात् धारणाहि परिपक्कअवस्थाको प्राप्त हूई ध्यान-रूप होजावे है सो ध्यान सगुण और निर्गुणभेदसे दो प्रकारका योगी लोकोंने कथन किया है तिनमे अपने हृद-यकमलमे संकल्पसे रचे हूये सुवर्णमय सिंहासनपर विरा-जमान हूये और कोटिसूर्यके समान तेजोमय भगवान् विष्णुका चरणसे लेकर शिरपर्यंत वस्त्र आभूषण आयु-धोंकरके सहित सब परिवारसहित जो मनमें ध्यान कर-नाहै सो सगुण ध्यान कहिये है तथा जों अपने हृदयक-मलमे अथवा भ्रुमध्यमें ज्योतिर्मय दीपकाकार दिव्यप्र-काश सूर्यचंद्र आदिकोंकेभी प्रकाश करनेहारे ब्रह्मके स्वरू-पका जो चिंतन करना है सो निर्गुण ध्यान कहिये है इसी ध्यानकरकेहि योगी लोक अणिमा महिमा आदि दिव्य गुणोंको संपादन करते हैं और इस ध्यानके बलसेहि ऋषि-मुनिलोक सर्व जगत्को हस्तामलककी न्यांई प्रत्यक्ष देखते हैं (सो ध्यानमे स्थित हूये ऋषिलोक परमेश्वरकी शक्तिको देखते भये इति ध्यान करता हूया योगी तिस परमा-त्माको देखताहै इति) इत्यादि श्रुतियोंके वचनोंसेभी ध्यानकरके योगीलोकोंको ज्योतिस्वरूप परब्रह्मका दर्शन

होवे है यातें योगाभिलाषी पुरुषोंको ध्यानका अवश्य अभ्यास करना योग्य है इति ॥ १० ॥

ध्येयाकारापत्तिश्चित्तस्य समाधिः ॥ ११ ॥

ध्यानमेव कालेन दृढतामुपगतं समाधित्वेन परिणमते ध्याने क्रियमाणे यत्र ध्यातृध्यानध्येयानां पृथक्त्वेन प्रतिभानं भवति तदा तद्ध्यानमित्युच्यते । यदा तु चित्तं ध्यातृध्याने विस्मृत्य केवलं ध्येयपदार्थस्वरूपेणैवावतिष्ठते तदासमाधिरित्यभिधीयते चित्तं हि स्वच्छकाचकलशोपमं यथा काचकलशे यद्वर्णं जलं पूर्यते स तन्निभोवभासते तद्वत् ध्यानाभ्यासेन निर्मलीभूतं मनो यदा यस्मिन् ध्येये निवेश्यते तत्स्वरूपेणैव तदा परिणतं भवति ध्येयगतगुणांश्चात्मन्याकर्षयति तत एव योगिनां सर्वशक्तित्वमुपजायते 'बलेषु हस्तिबलादीनि' भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् 'चंद्रे ताराव्यूहज्ञानम्' ध्रुवे तद्गतिज्ञानमित्यादिसूत्रेषु योगशास्त्रे समाधिद्वारा ध्येयगुणाकर्षणं चित्तस्य प्रसिद्धम् ॥ ११ ॥

ध्येयाकारापत्तिश्चित्तस्य समाधिः ॥ दीर्घकालके अभ्याससे दृढ भया ध्यानहि समाधिरूप होजावे है ध्यान करनेकालमें जब ध्याता ध्यान ध्येय इन तीनोंकी भिन्न

भिन्न प्रतीति होवे है तो सो ध्यान कहिये है और जब ध्याता और ध्यानको भूलकरके मन केवल एक ध्येय पदार्थके स्वरूपसेहि स्थिर होवे है तो तब सो समाधि कहिये है क्योंकि योगीका मन शुद्ध काचके वर्तनके समान निर्मल होवे है सो जैसे काचके वर्तनमे जिस रंगका पानी भरा जावे है सो उसी जैसा प्रतीत होवे है तैसेहि ध्यानके अभ्याससे निर्मल भया योगीका मन जिस ध्येय पदार्थमे लगाया जावे है तो उसीके स्वरूप-मय होजावे है तो ध्येयपदार्थके जो जो गुण होते हैं सो सब योगीके मनमे आयजाते हैं इसीसे योगियोंको सर्वशक्तिपणा होवे है तथा 'हस्ति सिंह आदिके बलमें संयम करणेसे योगीको तिनके बलकी प्राप्ति होवे है इति, सूर्यमे संयम करनेसे योगीको सर्व भुवनोंका दर्शन होवे है इति, चंद्रमंडलमे संयम करनेसे योगीको सब तारामंडलका ज्ञान होवे है इति, ध्रुवमे संयम करनेसे सब तारोंकी गतिका ज्ञान होवे है इति, इत्यादि सूत्रों-करके योगशास्त्रमें समाधिद्वारा ध्येय पदार्थके गुणोंका योगीके मनमे आना प्रसिद्ध निरूपण किया हूया है इति ॥ ११ ॥

प्राणाचलत्वं वा ॥ १२ ॥

समाधेर्हि द्विविधं साधनं भवति राजयोगक्रमेण हठयोगक्रमेण च तत्र धारणाध्यानपूर्वकः समाधी राजयोगविषयः। प्राणायामाभ्यासपूर्वकः प्राणगतिनिरोधात्मको हठयोगविषयः तयो राजयोगसमाधेर्लक्षणमुक्तं यश्च दीर्घकालप्राणायामाभ्यासपूर्वकं प्राणानां ब्रह्मरंध्रप्रवेशेन गतिनिरोधः स हठयोगसमाधिरभिधीयते तत्रायं क्रमः यमनियमैरुपेतो जितासनः योगाभिज्ञदेशिकदर्शितमार्गः प्रथमं प्राणायामाभ्यासं कुर्यात् कुंभकाभ्यासे सम्यग्वृद्धिमुपगते मूलबंधेनापानस्योर्ध्वनयनमभ्यसेत् तेन कतिपयदिवसैरपानवायुर्नाभिगतकुंडलीस्थानं विनिर्जित्य षट्चक्राणि भित्त्वा प्राणेन सहैकीभूयोर्ध्वमारोहणं करोति ततो नाभिं हृदयं कंठं भ्रूमध्यं च क्रमेणातिक्रम्य मूर्ध्नि ब्रह्मरंध्रे सुषुम्नाद्वारा प्रविशति ततो दीर्घकालाभ्यासेन तत्र चिरकालं स्थितिं भजते तदा विस्मृतबाह्यप्रपंचस्य स्थिरप्राणस्य योगिनः समाधिरुपजायते सोयं हठयोगसमाधिरादौ शिवेनोपदिष्टो मत्स्येन्द्रगोरक्षादिभिश्चोपसेवितस्तैश्च शिष्यपरंपरया लोके प्रचारितोऽभूत् यद्यप्यस्मिन् समये तस्य संप्रदायो लुप्तप्रायो जातस्तथापि बहुरत्ना वसुं-

धरेति न्यायेनाधुनापि क्वचित्केचित् तदभिज्ञा महात्मानः संत्यतो हठयोगाभिलाषिभिस्तेषामन्वेषणं कृत्वा ततो युक्तिं समधिगम्य समाधेः साधनं विधेयं अनेनैव समाधिना वशीकृतप्राणा योगिनः स्वशरीराद्बहिर्निर्गच्छंति परकायं प्रविशंति देहोत्सर्गंच स्वेच्छया कुर्वंतीति ॥ १२ ॥

प्राणाचलत्वं वा ॥ अथवा प्राणोंकी स्थिरताको समाधि कहते हैं क्योंकि दो प्रकारसे समाधिकी साधना होवे है एक तो राजयोगकी रीतिसे और दूसरी हठयोगकी रीतिसे तिनमें धारणाध्यानादिसे जो समाधिसिद्ध होवे है सो राजयोगसमाधि कहिये है तथा जों प्राणायामके अभ्याससे प्राणके निरोधसे समाधिसिद्ध होवे है सो हठयोगसमाधि कहिये है तिनमे राजयोगसमाधिका लक्षण तो पीछे कथन कर दिया अब जो दीर्घकाल प्राणायामके अभ्याससे ब्रह्मरंध्रमे प्राणका स्थापनरूप हठयोगसमाधि है तिसका लक्षण निरूपण करते हैं तहां यह रीति है कि यमनियमोंकरके युक्त भया पुरुष आसनको जीत करके योगक्रियाके जाननेहारे गुरुसे युक्ति सीखकरके प्रथम प्राणायामका अभ्यास करे और जब कुंभकका अभ्यास ठीक बढजावे तो पीछे मूलबंधद्वारा

अपान वायुके ऊपर लानेका अभ्यास करे तिससे कित-
नेक दिनोंमें अपानवायु उलटा हूया नाभिमें कुंडलीको
बोधन करता हूया षट्चक्रोंको भेदन करके प्राणसे मिल
करके ऊपरको आरोहण करता है फिर नाभि हृदय कंठ
भ्रूमध्य इन स्थानोंको क्रमसे लंघन करके मस्तकमे ब्रह्म-
रंध्रमें सुषुम्नानाडीद्वारा प्रवेश करता है फिर दीर्घकालके
अभ्यास करनेसे तहां चिरकालपर्यंत स्थिरताको प्राप्त
होता है तो तिस कालमें सर्व बाह्य प्रपंचको भूलकरके
प्राणके स्थिर होनेसे योगी समाधिमें स्थित होवे है इसको
हठयोगसमाधि कहते हैं सो यह समाधि प्रथम शिवजीने
उपदेश किया और उनके शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्ष-
नाथ आदिकोंने सेवन किया तथा शिष्यपरंपरासे जग-
त्‌में इसका प्रचार किया है यद्यपि इस कालमें तिसका
संप्रदाय लुप्त जैसा हो गया है तोभी 'बहुरत्ना वसुंधरा'
इस न्यायसे अबभी कहीं कहीं कोई कोई तिसके जान-
नेवाले महात्मा लोक विद्यमान हैं यातें हठयोगसमा-
धिकी इच्छावाले जिज्ञासु लोकोंको तिनका खोज करके
तिनसे युक्ति सीख करके हठयोगसमाधिका साधन करना
योग्य है इसी समाधिसे प्राणोंको वश करके योगीलोक
अपने शरीरसे बाहिर निकलजाते हैं और दूसरे शरी-

रमें प्रवेश करजाते हैं तथा स्वेच्छापूर्वक अपने शरी-
रको छोडकर मुक्त होजाते हैं इति ॥ १२ ॥

तदेवमष्टांगयोगस्य साधनमभिधायेदानीं तत्फलं
वर्णयति

चित्तेन्द्रियशरीरशुद्धिरभ्यासात् ॥ १३ ॥

दीर्घकालपर्यंतं नियमपूर्वकं सांगस्य योगस्याभ्या-
सात् योगिनश्चित्तस्येन्द्रियाणां शरीरस्य च शुद्धिर्जा-
यते यथानलसंयोगेन सुवर्णादिधातवः परितः शुद्ध्यं-
त्येवमेव योगाग्निना जन्मजन्मांतरसंचितदुरितदोष-
क्षये योगिनश्चित्तादीनां निर्मलत्वं प्रजायत इति ॥१३॥

इस प्रकार अष्टांगयोगका साधन कथन करके अव ति-
सका फल वर्णन करे हैं। चित्तेन्द्रियशरीरशुद्धिरभ्यासात्॥
दीर्घकालपर्यंत नियमपूर्वक अष्टांगयोगके अभ्यास कर-
नेसे योगीके चित्त इन्द्रिय और शरीरकी शुद्धि होवे है
जैसे अग्निके संयोगसे सुवर्णआदिधातुवोंकी शुद्धि होवे
है तैसे हि योगरूप अग्निकरके जन्मजन्मांतरोंके संचय
किये हूये पापोंके नाश होनेसे योगीके चित्त इन्द्रियोंकी
निर्मलता होवे है इति ॥ १३ ॥

ततः किं भवति।

दिव्यगुणाविर्भावश्चावरोधाभावात् ॥ १४ ॥

सर्वतः शुद्धिमुपगतानां चित्तादीनां दुरितदोषजनितस्य मलात्मकस्यावरोधकस्याभावात् चित्तादीनां ये स्वाभाविका दिव्यगुणास्तेषां प्रादुर्भावो जायते यथा भस्माच्छन्नस्य वह्नेः सहजस्य तेजसस्तिरोभावो भवति भस्मापनयने च तदेव तेजः प्रज्वलन्निवाविर्भावत्वं लभते तद्वदेव चित्तादीनां स्वाभाविकी दिव्यशक्तिरपि जीवप्रमादोत्थेन बहुजन्मार्जितदुष्कृतदोषभरेण तिरोभूता भवति योगांगानुष्ठानेन च तस्य क्षये साविर्भावमुपगच्छतीति वेदितव्यं तथाच योगसूत्रं 'चित्तेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसा' इति ॥१४॥

दिव्यगुणाविर्भावश्चावरोधाभावात् ॥ सर्वप्रकारसे चित्तइन्द्रियआदिकोंके शुद्ध होनेसे पापदोषजन्य मलिनतारूपी अवरोधके अभाव होनेसे चित्त आदिकोंके जो स्वाभाविक दिव्य गुण हैं तिनका आविर्भाव होवे है जैसे भस्ममें ढके हूये अग्निके स्वाभाविक तेजका तिरोभाव होवे है और भस्मके दूर करनेसे फिर सोई तेज प्रकाशवान् हूया आविर्भावको प्राप्त होवे है तैसेहि चित्त आदिकोंकी स्वाभाविक दिव्य शक्ति जो जीवके

प्रमादसे बहुत जन्मोंके पापोंके दोषसे तिरोभावको प्राप्त होती है सो अष्टांगयोगके अभ्यास करनेसे तिस दोषके दूर होनेसे आविर्भावको प्राप्त होजावे है तथा योगशास्त्रमें पतंजलिनेभी लिखा है (तप करनेसें योगीके चित्त और इन्द्रियोंकी शुद्धि होनेसें सिद्धिकी प्राप्ति होवे है इति) ॥ १४ ॥

तानेव चित्तेन्द्रियशरीरगुणान् क्रमेण दर्शयति तत्र

संकल्पसत्यता चित्तस्य ॥ १५ ॥

चित्तशुद्धिमुपगतो योगी यं यं पदार्थं मनसाभिलषति तं तमेव सत्वरमवाप्नोति यच्चाप्यन्यस्य स्वसेवकादेर्हेतोरिच्छति तदपि तस्याचिरेणैवोपसंपद्यते सेयं संकल्पसत्यता योगिनश्चित्तशुद्धावाविर्भवतीति ॥१५॥

अव शुद्ध भये चित्त इन्द्रिय और शरीरके गुणोंको क्रमसे निरूपण करते हैं। संकल्पसत्यता चित्तस्य ॥ जब अष्टांगयोगके अभ्याससे योगीके चित्तकी शुद्धि हो जावे है तो उसका संकल्प सत्य होवे है अर्थात् सो जिस जिस पदार्थकी मनसे इच्छा करता है सोई सोई पदार्थ शीघ्रहि तिसको प्राप्त होवे है तथा औरभी अपने सेवक आदिकोंके लिये जिस वस्तुकी वांछा करता है सोभी

जावे है सो यह सत्यसंकल्पपणा योगीको शुद्धिसे आविर्भाव होवे है इति ॥ १५ ॥

दूरदर्शनादीन्द्रियाणाम् ॥ १६ ॥

ध्याने स्थितो योगी बहुयोजनदूरगतानपि पदार्थान् समीपगतानिवावलोकयति बहुदूरवर्तिनोपि लोकवार्तालापानभ्याशगतानिव शृणोति दूरवाटिकागतानामपि पुष्पाणां सुगंधस्यानुभवं करोति दूरादेव च वनितादिस्पर्शजं सुखं विजानाति अनास्वादितस्वादुपदार्थोपि स्वजिह्वाग्रे विविधरसास्वादनमनुभवतीत्येवं योगिनः शुद्धानामिन्द्रियाणां दूरादेव स्वस्वविषयग्रहणसामर्थ्यं प्रादुर्भवति तथा च योगसूत्रं 'ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायंते' इति ॥ १६ ॥

दूरदर्शनादीन्द्रियाणाम् ॥ इन्द्रियोंकी शुद्धि होनेसे योगीको दूरदर्शनआदिकी सामर्थ्य उत्पन्न होवे है अर्थात् ध्यानमें स्थित भया योगी अनेक योजन दूरगत पदार्थोंको भी अपने समीपगतकी न्याईं देखता है और बहुत दूरके लोकोंकी वार्तालापोंको अपने नजदीककी न्यांईं सुनता है और दूर बगीचोंके पुष्पोंकी सुगंधिको समीपकी न्यांईं अनुभव करता है और दूरसे स्त्रियोंके

आलिंगनकी न्यांई स्पर्शसुखका अनुभव करता है तथा स्वादु पदार्थोंके खानेके विनाहि अपनी जीभके अग्रभागमे नानाप्रकारके स्वादोंका अनुभव करता है इस प्रकार शुद्ध भई इन्द्रियोंको दूरसे हि अपने अपने विषयोंके ग्रहण करनेकी शक्ति उत्पन्न होवे है तथा योगशास्त्रमें पतंजलिनेभी कहा है कि (योगीको शब्द स्पर्श रूप रस गंध इन पांचों विषयोंका दिव्य ज्ञान उत्पन्न होवे है इति) ॥ १६ ॥

शरीरस्याव्याहतगतित्वम् ॥ १७ ॥

यत्र गंतुमिच्छति तत्रैव क्षणेन सशरीरो व्रजति यत्र वा सूक्ष्मरंध्रादिस्थानेषु प्रवेष्टुमीहते निरोधवर्जितस्तत्र सहसैवानुप्रविशतीत्येवं शरीरस्य स्वतंत्रगतित्वं योगिनः शरीरशुद्धावुपजायते तथा च योगसूत्रं 'ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च' इत्येवं चित्तेन्द्रियशरीरशुद्धौ योगिनस्त्रिविधं सामर्थ्यं प्रादुर्भवतीति ॥ १७ ॥

शरीरस्याव्याहतगतित्वम् ॥ तथा शरीरकी शुद्धि होनेसे योगीकी अव्याहत गति होवे है अर्थात् जहां जाना चाहता है तहां हि क्षणभरमें शरीरके सहित चला जावे

है तथा जहा सूक्ष्म छिद्रादिवाले मकानोंमें प्रवेश करना चाहता है तो विना रोकटोकके शीघ्रहि प्रवेश कर जावे है इस प्रकारका स्वतंत्रगतिपणा योगीको शरीरकी शुद्धि होनेसे प्राप्त होवे है तथा योगशास्त्रमेंभी लिखा है (फिर योगीकों मनके वेगके समान गति और स्थूल शरीरके विना इन्द्रियोंके विपयोंका ज्ञान तथा प्रकृतिका जय होवे है इति) इस प्रकार उक्त रीतिसे चित्त इन्द्रिय और शरीरकी शुद्धिसे योगीको तीन प्रकारकी सामर्थ्य उत्पन्न होवे है इति ॥ १७ ॥

अणिमादिलाभोपिपरसंबंधात् ॥ १८ ॥

सर्वसिद्धीनां निलयोहि परमेश्वरस्तस्य ध्यानाद्योगिनां तत्संबंधेनाणिमादिसर्वसिद्धीनां लाभोपि प्रजायत इति बोद्धव्यम् ॥ १८ ॥

अणिमादिलाभोपि परसंबंधात् ॥ सर्व सिद्धियोंका स्थानभूत परमेश्वर है यातें तिसके ध्यानसे योगियोंको तिसके साथ संबंध होनेसे अणिमामहिमाआदिक सर्व सिद्धियोंकी भी प्राप्ति होवे है इति ॥ १८ ॥

कथमेतत्

तद्गुणसंक्रांतेर्लोकवत् ॥ १९ ॥

लोके यथा राजपार्श्ववर्तिनाममात्यादीनां राजसंबंधेन कालेन राजधनसंक्रमणेन धनित्वमुपजायते यथा च पुष्पसंयोगतस्तैले सुगंधप्रचारो भवति तद्वन्निरंतरमीश्वरचिंतनं कुर्वतां योगिनामीश्वरसंबंधादीश्वरगुणसंक्रमणेन कालेन सर्वसिद्धिभाजनत्वमुपजायत इति ॥ १९ ॥

यह कैसे होता है (तद्गुणसंक्रांतेर्लोकवत्। जैसे लोकमें राजाके पास रहनेहारे दीवान मुत्सद्दी आदिकोंको राजाके संबंधसे काल पाय करके धनके संक्रमण होनेसे धनीपणा होय जावे है और जैसे पुष्पोंके संयोगसे तेलमें सुगंधिका प्रवेश होजावे है तैसेहि निरंतर ईश्वरके चिंतन करनेहारे योगियोंमें ईश्वरके गुणोंका संक्रम होनेसे तिनको सर्व सिद्धियोंकी प्राप्ति होवे है इति ॥ १९ ॥

अत एवाख्यानसार्थक्यम् ॥ २० ॥

अत एवोक्तहेतोर्यानि पुराणेषु योगिनामाकाशगमनांतर्धानान्यशरीरप्रवेशादीन्याख्यानानि श्रूयंते तानि सर्वाण्येव यथार्थानि संतीति मंतव्यं नहीश्वरप्र-

सादलब्धाशेषसिद्धीनां योगिनां त्रिष्वपि लोकेषु कि-
मप्यशक्यं भवतीति ॥ २० ॥

अतएवाख्यानसार्थक्यम् ॥ इसी कारणसे पुराणोंमें
जो योगियोंके आकाशगमन अंतर्धान परकायप्रवेश
आदि इतिहास सुननेमें आते हैं सो सबही यथार्थ सम-
झने चहिये क्योंकि ईश्वरकी कृपासे सर्वसिद्धियोंको
प्राप्त भये योगियोंको तीनों लोकोंमेभी कुछ दुर्लभ वस्तु
नहि होवे है इति ॥ २० ॥

परदर्शनं च पुण्योत्कर्षात् ॥ २१ ॥

दीर्घकालयोगांगानुष्ठानजनितसुकृतसंचयवशाद्यो-
गिनां ध्यानसमये स्वहृदयकमलेंतर्यामितया स्थितस्य
परमेश्वरस्य ज्योतिःस्वरूपेण दर्शनमपि जायते यद्य-
पीश्वरस्याव्यक्तस्वरूपत्वाच्चर्मचक्षुर्विषयत्वं नास्ति तथा-
पि योगजदिव्यदृष्टिविषयत्वं तु तस्यास्त्येव 'तद्विष्णोः
परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः' 'ततस्तु तं पश्यते नि-
ष्कलं ध्यायमानः' 'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यं-
ति यं योगिनः' 'ज्योतिः पश्यंति युंजानास्तस्मै यो-
गात्मने नमः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनेभ्यो योगिनां
समाधावीश्वरदर्शनं निश्चीयत इति ॥ २१ ॥

(परदर्शनं च पुण्योत्कर्षात्) तथा दीर्घकालपर्यंत अष्टांगयोगके अनुष्ठानसे पुष्कल पुण्यके संचय होनेसे योगियोंको ध्यानकालमें अंतर्यामी रूपसे स्थित भये ज्योतिःस्वरूप परमेश्वरकाभी दर्शन होवे है यद्यपि ईश्वरको अव्यक्त स्वरूप होनेसे चर्मचक्षुयोंका विषयपणा नहि संभवे है तथापि योगजन्य दिव्य दृष्टिका विषय तो ईश्वर होवे है (सो ईश्वरका परम स्वरूप सदा योगी लोक देखते हैं इति, तदनंतर ध्यान करता हूया योगी निष्कल परमात्माको देखता है इति, ध्यानमे स्थित भये तद्गत चित्त करके योगी लोक जिसको देखते हैं इति, ध्यान करते हूये योगी लोक जिस ज्योतिस्वरूपको देखते हैं तिस परमात्माको मैं प्रणाम करता हूं इति) इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंके वचनोंसे योगियोंको समाधिकालमें ईश्वरका दर्शन होना निश्चय होवे है इति ॥ २१ ॥

भवबंधनिवृत्तिस्ततः श्रवणात् ॥ २२ ॥

ततः परमेश्वरस्वरूपदर्शनेन योगिनां जननमरणात्मकभवबंधनस्य निवृत्तिर्जायते नहि साक्षाज्जगदीश्वरदर्शनपवित्रितांतःकरणानामपगताशेषदुरितदोषाणां योगिनां पुनर्भवबंधनं भवितुमर्हति तथाचोक्तं

श्वेताश्वतरोपनिषदि 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' 'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः। क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति ॥ २२ ॥

भवबंधनिवृत्तिस्ततः श्रवणात् ॥ उक्त प्रकारसे परमेश्वरके दर्शन होनेसे योगियोंके जन्ममरणरूप संसारबंधनकी निवृत्ति होवे है क्योंकि साक्षात् सर्व जगत्के ईश्वर परमात्माके दर्शनसे पवित्र हूये अंतःकरणवाले और सर्व पाप दोषोंसे रहित हूये योगियोंको फिर संसारबंधनकी प्राप्ति नहि होसके है तथा श्वेताश्वतरउपनिषत्मेंभी कहा है (जिस कालमें योगी ध्यानमें जुडा हूया दीपकरूपी चित्तवृत्तिसे अज ध्रुव सर्व तत्वोंसें विशुद्ध ब्रह्मतत्वका दर्शन करता है तो तिस कालमे परमात्मा देवके स्वरूपको जान करके सर्व संसारके बंधनोंसे छूट जावे है इति) समाधिमे प्रकृतिसे परे परमात्माके दर्शन होनेसे योगीके हृदयकी सर्व ग्रंथियां खुलजाती हैं और सर्व संशय छेदन हो जाते हैं तथा सर्व कर्मोंका क्षय हो जावे है इति) यह संक्षेपसे अष्टांगयोगका फल वर्णन किया है जिस पुरुषको विशेष योगविषयके जाननेकी अभिलाषा होवे तो सो हमारे निर्माण किये हूये योग-

कल्पद्रुम तथा योगरसायन ग्रंथमे देख लेवें इति ॥ २२॥

(इति अध्यात्मधर्म निरूपणम्)

इत्थमाध्यात्मिकस्य धर्मस्य निरूपणं कृत्वाथेदानीमाधिदैविकमुपवर्णयति

आधिदैविको देवयजनम् ॥ २३ ॥

'यज्ञेन यज्ञमयजंत देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्नि'ति वेदवचनानुसारेण यज्ञादिभिः साधनैर्यद्देवानामाराधनं स आधिदैविको धर्म इत्युच्यते ॥२३॥

इस प्रकार आध्यात्मिक धर्मका निरूपण करके अव आधिदैविक धर्मका वर्णन करते हैं । आधिदैविको देवयजनम् ॥ (यज्ञ करके देवतायोंने विष्णुका यजन किया सो धर्म प्रथम होते भये इति) इस यजुर्वेदके वचनानुसार यज्ञादि साधनोंकरके जो देवतायोंका आराधन करना है सो आधिदैविक धर्म कहिये है इति ॥२३॥

के ते देवाः

देवाः शक्रादयः ॥ २४ ॥

इन्द्रबृहस्पतिवरुणकुबेरवसुरुद्रादित्यविद्याधरगंधर्वादयो दिव्यशरीरा दिव्यस्थाना दिव्यविषया दिविभवा देवा इत्युच्यंते ॥ २४ ॥

प्रश्न० सो देवता कौन हैं। उत्तर, देवाः शक्रादयः। इन्द्र बृहस्पति वरुण कुबेर वसु रुद्र आदित्य विद्याधर गंधर्व इत्यादि दिव्य शरीर दिव्य स्थान दिव्य विषयोंसे युक्त आकाशमें रहनेहारे लोक देवता कहे जाते हैं इति ॥ २४ ॥

ते कुत्र निवसंति

स्वर्गे श्रवणात् ॥ २५ ॥

इन्द्रादिदेवानां स्वर्गे निवासो विद्यते श्रूयते हि श्रुतिस्मृतिपुराणेषु सर्वत्र स्वर्गलोको देवानां निवासस्थानं तथा च वेदवचनं (यजुः अ. ३२ मं. १०) 'यत्र देवा अमृतत्वमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयंत' तथा (यजुः अ. ३१ मं. १६) 'तेह नाकं महिमानः सचंत यत्र पूर्वे साध्याः संति देवाः' इति भारतेपि मोक्षधर्मे 'आदित्या वसवो रुद्रास्तथैवाग्न्यश्विमारुताः। विश्वे देवास्तथा साध्याः पितरोथ मरुद्गणाः॥ यक्षराक्षसगंधर्वाः सिद्धाश्चान्ये दिवौकसः॥ संसिद्धास्तपसा तात ये चान्ये स्वर्गवासिनः' इति ॥ २५ ॥

प्रश्न, सो देवता कहां रहते हैं । उत्तर, स्वर्गे श्रवणात् ॥ इन्द्रादि देवतायोंका निवास स्वर्गमें है क्योंकि

श्रुतिस्मृतिपुराणोंमे सर्वत्र स्वर्गलोकहि देवतायोंका निवासस्थान सुननेमे आता है तथा यजुर्वेदमे लिखा है (जहां पृथिवीसे तीसरे धाममें अमृतको भोगतेहूये आनंदमे विचरते हैं इति, यज्ञ करनेहारे स्वर्गमे महिमाको प्राप्त होते भये जहां पहलेके साध्य देवता रहते हैं इति) तथा महाभारतके मोक्षधर्मपर्वमेभी लिखा है (आदित्य वसु रुद्र अग्नि अश्विनीकुमार वायु विश्वेदेवता साध्या पितर मरुत्गण यक्ष राक्षस गंधर्व सिद्ध इत्यादि और भी जो स्वर्गवासी देवता हैं सो सर्वहि तपसे सिद्धिको प्राप्त होते भये हैं) यातें देवताओंका निवास स्वर्गलोकमे निश्चय होवे है इति ॥ २५ ॥

सुखं हि स्वर्गमित्याहुः ये किलात्र सुखिनस्त एव स्वर्गवासिनः संतीति चेत् ।

न सुखार्थत्वं लोकशब्दात् ॥ २६ ॥

स्वर्गशब्दस्य सुखवाचित्वं नैव संगच्छते कुतः भूर्भुवः स्वरिति व्याहृतिषु स्वःशब्दस्य भूम्यंतरिक्षयोरुपरिगतस्य प्रदेशविशेषस्य वाचकत्वात् स्वरिगतः स्वर्गः इति निर्वचनात् तदनुलोकशब्दप्रयोगाच्च स्वर्गलोकः संपद्यते ततस्तस्य तृतीयलोकवाचकत्वमेवावसी-

यते सर्वत्र च शास्त्रेषु स्वर्गशब्दस्य लोकशब्देन सहा-न्वयो दृश्यते तथाच यजुर्वेदे (अ. १५ मं १०) 'ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयंत्विति' भगवद्गीतायामपि 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंतीति' तस्मान्न स्वर्गशब्दस्य सुखवाचित्वं भवितुमर्हतीति २८

शंका । स्वर्गनाम सुखका है यातें जो लोक यहा सुखी हैं सोई स्वर्गवासी होसकते हैं तो फिर आकाशमे स्वर्गकी कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है । समा-धान, न सुखार्थत्वं लोकशब्दात् ॥ स्वर्गशब्द सुखका वाचक नहि हो सकता है क्योंकि वेदमें भूर्भुवः स्वः इन तीन व्याहृतियोंमें स्वः शब्द भूमि और अंतरिक्षसे ऊपं-रवाले तीसरे स्थानका वाचक है सो व्याकरणकी रीतिसे स्वःमें जो होवे सो कहिये स्वर्ग तिसके पीछे लोकशब्द जोडनेसे स्वर्गलोक पद बनता है यातें सो तीसरे लोकका वाचक हि निश्चय होवे है सर्वत्र शास्त्रोंमें स्वर्गशब्दके साथ लोकशब्द देखनेमें आता है तथा यजुर्वेदमें लिखा है (सो सबी देवता स्तुति करते हूये तुम यजमानको नाकपृष्ठ जो स्वर्गलोक है तहां पहुचावो इति) तथा भगवत्गीतामेभी लिखा है (यज्ञ करनेवाले स्वर्गलोकके

भोग भोगकरके पुण्योंके क्षीण होनेपर फिर मर्त्यलोकमे
आते हैं इति) यातें स्वर्गशब्द सुखका वाचक नहि हो-
सकता किंतु तीसरे लोकका वाचक है इति ॥ २६ ॥

विलक्षणत्वश्रुतेश्च ॥ २७ ॥

मर्त्यलोकाद्विलक्षणत्वश्रवणादपि स्वर्गशब्दस्य तृती-
यलोकाभिधायित्वमवसेयं तथा चोक्तं कठोपनिषदि
'स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया
बिभेति उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकातिगो
मोदते स्वर्गलोके' इति महाभारतेपि शांतिपर्वणि 'सु-
सुखः पवनः स्वर्गे गंधश्च सुरभिस्तथा । क्षुत्पिपासा-
श्रमो नास्ति न जरा न च पापक'मिति ॥ २७ ॥

विलक्षणत्वश्रुतेश्च ॥ इस मर्त्यलोकसे स्वर्गलोक वि-
लक्षण सुननेमे आता है यातेंभी स्वर्गशब्दको तीसरे लो-
कका वाचक हि निश्चय करना योग्य है तथा कठउप-
निषत्‌मेभी लिखा है (नचिकेताका वचन है कि हे यम-
राज स्वर्गलोकमे कुछ भय नहि है न वहां तुमारा जोर
चलता है और न वहांके लोक बूढे होते हैं और भूख
प्यास तथा सर्व शोकोंसे रहित हूये पुरुष स्वर्गलोकमें
आनंदसे विचरते हैं इति) तथा महाभारतके शांति-

पर्वमें भी लिखा है कि (स्वर्गमें सुखरूपी पवन चलता है और चारोंतरफ सुगंध आती है और भूख प्यास नहि लगती और वहांके निवासियोंको कबी वृद्धावस्था नहि होती और न उनको कुछ पाप लगता है इति) इससे स्पष्ट प्रतीत होवे है कि स्वर्गशब्द तीसरे देवलोकका वाचक है इति ॥ २७ ॥

मनुष्येभ्यो देवानां कथमूर्ध्वं निवासो जातः ?

सत्त्वमयत्वादूर्ध्वम् ॥ २८ ॥

सत्त्वरजस्तमोमयी प्रकृतिरुक्ता तदनुरोधेन त्रिगुणात्मकमेवेश्वरेणाशेषमिदं जगन्निर्मितं सामान्यरूपेण समस्तप्रपंचस्य त्रिगुणात्मकत्वेपि गुणानां न्यूनाधिकभावेन तत्र विलक्षणत्वं जायते तथाहि नागरक्षःपिशाचादिनिवासभूमेः पाताललोकस्य तमोगुणात्मकत्वं मनुष्यपशुपक्ष्यादिनिवासस्थानस्य मर्त्यलोकस्य रजोगुणमयत्वं देवकिंनरगंधर्वादिनिवासस्थानस्य च स्वर्गलोकस्य सत्त्वगुणात्मकत्वं तथा चोक्तं भगवद्गीतायां (ऊर्ध्वं गच्छंति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसा') इति सांख्यकौमुद्यामपि 'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालस्तु

मूलतः सर्गः मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तंबपर्यंत' इति ततो देवानां सत्त्वगुणभूयिष्ठत्वान्मनुष्यलोका-दूर्ध्वं निवासित्वं समंजसम् ॥ २८ ॥

प्रश्न, देवतायोंका मनुष्योंसे ऊपर निवास किसकारणसे हूया । उत्तर, सत्त्वमयत्वादूर्ध्वम् ॥ सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण यह तीनोगुण मिलेहूये प्रकृति कहलाती है सो तिस प्रकृतिके अनुसारहि ईश्वरने यह सर्व जगत् त्रिगुणमय हि रचा है सो सामान्यरूपसे सर्वप्रपंचको त्रिगुणरूप होनेपरभी गुणोंके न्यूनाधिकपणेसे तिसमें विलक्षणता होवे है सो जैसे नाग राक्षस पिशाचादिकोंका निवासस्थान जो पाताललोक है सो तमोगुणप्रधान है तथा मनुष्य पशु पक्षि आदिकोंका निवासस्थान जो यह मर्त्यलोक है सो रजोगुणप्रधान है तथा देवता ऋषि गंधर्व आदिकोंका स्थान जो स्वर्गलोक है सो सत्वगुणप्रधान है तथा भगवत्गीतामेभी लिखा है कि (सत्वगुणमे स्थित पुरुष ऊपरको जाते हैं और रजोगुणवाले मनुष्यलोकमे रहते हैं तथा तमोगुणवाले अधोलोकको जाते हैं इति । तथा सांख्यकौमुदीमेंभी लिखा है कि (ऊपरलोकमें सत्वगुणमयी सृष्टि है और मध्यलोकमें रजोगुणमयी सृष्टि है तथा अधोलोकमे तमोगुणमयी

सृष्टि है ब्रह्मासे लेकर स्थाणुपर्यंत सर्व त्रिगुणमयी सृष्टि है इति) यातें देवतायोंको सत्वगुणप्रधान होनेसे मनुष्यलोकके ऊपर तिनका निवास होना ठीक है इति ॥२८॥

विपक्षे दोषमाह

तदभावे कर्मवैयर्थ्यम् ॥ २९ ॥

स्वर्गलोकाभावे तु वेदोक्तानां स्वर्गप्राप्तिसाधनानां यज्ञादिकर्मणामुपासनायाश्च व्यर्थत्वमेव प्रसज्येत 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'यज्ञेन वै देवा दिवमुपोदक्रामन्' 'विद्यया देवलोक' इत्यादि वेदवचनेषु यज्ञानुष्ठानेनोपासनया च स्वर्गलोकप्राप्तिरुच्यते यदि स्वर्गलोको न भवेत् तदा वेदविहितयोः कर्मोपासनयोरुभयोस्तत्प्रतिपादकस्य वेदस्यचानर्थक्यमेव भवेत् ततः शास्त्रविहितयज्ञतपोदानादिशुभकर्मणां फलोपभोगाय स्वर्गलोकोवश्यमभ्युपेयः तथाच श्रीकृष्णवचनं 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते । ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नंति दिव्यान् दिवि देवभोगा'निति ॥ २९ ॥

अव स्वर्गके नहि माननेमें दोष कथन करते हैं (तद भावे कर्मवैयर्थ्यम् ॥ जो स्वर्गलोक नहि होवे तो स्वर्ग-

की प्राप्तिके साधन जो यज्ञादि कर्म और उपासना वेदमें लिखे हैं सो सबी व्यर्थ होजावेंगे (स्वर्गकी इच्छावाला ज्योतिष्टोम यज्ञ करके यजन करे इति) यज्ञ करके देवता स्वर्गमें आरोहण करते भये इति । उपासनासे देवलोककी प्राप्ति होवे है इति) इत्यादि वेदके वचनोंसे यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठानसे और उपासनासे स्वर्गलोककी प्राप्ति कथन करी है और जो स्वर्गलोक नहि होवे तो वेदविहित कर्म और उपासनाको तथा तिनके प्रतिपादन करनेवाले वेदकोभी व्यर्थपणा होवेगा यातें शास्त्रविहित यज्ञ तप दानादिक शुभकर्मोंके फल भोगनेके लिये स्वर्गलोकका अस्तिपणा अवश्य मानना योग्य है तथा भगवत्गीतामे श्रीकृष्णजीका भी वचन है (तीनों वेदोंके जाननेवाले यज्ञमे सोमपान करनेहारे पापोंसे रहित हूये मेरेको यज्ञोंकरके पूजन करके स्वर्गगतिकी प्रार्थना करते हैं और फिर सो पवित्र स्वर्गलोकको प्राप्त होयकरके आकाशमे दिव्य भोगोंको भोगते हैं इति) यातें स्वर्ग-लोक अवश्य मानना योग्य है इति ॥ २९ ॥

ये किलात्र विद्वांसः सुशीलाः सत्यनिष्ठा ब्राह्मणास्त एव देवशब्दवाच्याः किमन्यदेव कल्पनयेति चेत्

तैजसशरीरत्वादन्यत्वम् ॥ ३० ॥

स्थूलत्वगुरुत्वादिपृथिवीगुणभूयिष्ठत्वान्मनुष्यजातेः
शरीरं पार्थिवमित्युच्यते देवानां तु लघुत्वप्रकाशत्वा-
दितेजोगुणविशिष्टत्वात्कलेवरं तैजसं भवति ततो न
कदापि मनुष्या देवा भवितुमर्हति केवलं शमदमवि-
द्यादिदैविकगुणानुबंधेन ब्राह्मणेषु क्वचित् भूदेवशब्द-
प्रयोगो भवति यथा कटुत्वादिनिंबगुणसाम्येन किरा-
तके भूनिंबशब्दः प्रयुज्यते तथाचोक्तं शतपथब्राह्मणे
'द्वया वै देवा देवा अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रु-
वांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तेषां द्वेधा विभक्त एव
यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवाना'
मिति किंच दुर्गंधबहुलं मनुष्यशरीरं देवानां घृणा-
स्पदं पुराणेतिहासैरवगतमिदं यो हि किल देवानां स्वर्गे
कोपभाजनं जायते तं ते मनुष्यलोके दंडरूपत्वेन प्रेष-
यंतीति यथा भीष्मः पूर्वं देवो भूत्वा वसिष्ठशापेन
मनुष्यत्वमुपागत इत्येवमादीन्याख्यानानि महाभार-
तादिषु प्रसिद्धानि तथा च योगभाष्यं 'मनुष्यजातिः
श्रेयसी न वेति प्रश्ने 'पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषीं-
श्चाधिकृत्य ने'तीत्यत्र मनुष्यजातेर्देवानां सकाशादप-
कृष्टत्वमुपदर्शितं देवानां तु भूम्यस्पर्शित्वानिमेषनेत्र-

त्वच्छायारहितत्वादिगुणयुक्तं तेजोमयं कलेवरं श्रूयते तत्कथं मनुष्याणां तत्तुल्यत्वं भवितुमर्हति तथाचोक्तं ऋग्वेदे (ऋ. मं. १० अ. ५ सू. ६३ मं. ४) नृचक्षसो अनिमिषंतो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः। ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवोवर्ष्माणं वसते स्वस्तये' महाभारतेपि वनपर्वणि नलोपाख्याने 'साप-श्यद्विबुधान् सर्वानस्वेदान् स्तब्धलोचनान्। हृषित-स्रग्रजोहीनान् स्थितानस्पृशतः क्षिति'मिति तस्मान्म-नुष्यजातेर्विलक्षणत्वाद्देवानामुत्कृष्टत्वमेवावसेयम् २०

शंका। जो इसलोकमें सत्यवक्ता सुशील विद्वान् ब्रा-ह्मण हैं सोई देवता कहिये हैं दूसरे देवतायोंकी कल्पना क्यों करनी चहिये। समाधान। तैजसशरीरत्वादन्य-त्वम्॥ स्थूलपणा भारीपणा आदि पृथिवीके गुणवाला होनेसे मनुष्यशरीर पार्थिव कहिये है और देवतायोंका शरीर तो लघुपणा प्रकाशपणा आदि तेजके गुणवाला होनेसे तैजस कहिये है इसलिये मनुष्यशरीर देवता कबी नहि हो सकता है केवल शमदमविद्या आदिक दैविक गुणोंके संबंधसे कबी कहीं ब्राह्मणोमें भूदेव शब्दका प्रयोग होवे है जैसे कटुपणा आदि निंबके गुणोंकी समा-नतासे चिरायतामे भूनिंब शब्दका प्रयोग होवे है तथा

शतपथब्राह्मणमेभी कहा है (देवता दोप्रकारके हैं एक तो खास देवता और दूसरे जो पढे लिखे विद्वान् ब्राह्मण हैं सो मनुष्यदेवता हैं तिन दोनोंका भिन्न भिन्न यज्ञ है खास देवतायोंका यज्ञ अग्निमे आहुतियोंसे होवै है और मनुष्यदेवतायोंका यज्ञ दक्षिणा देनेसे होवे है इति) इससे देवताजाति और मनुष्यजातिका भेद स्पष्ट सिद्ध होवे है किंच मनुष्यशरीरको दुर्गंधयुक्त होनेसे देवता इससें घृणा करते हैं यह वार्ता पुराणोंमें प्रसिद्ध है कि स्वर्गमें देवता जिसपर नाराज होते हैं तो उसको दंड भुगानेके लिये मनुष्यलोकमें भेजदेते हैं जैसे कि भीष्मपितामह पहले वसुजातिका देवता था सो वसिष्ठमुनिके शापसे मनुष्यलोकमे शरीर ग्रहण करताभया इत्यादि वहुतसे इतिहास महाभारतादिकोंमें प्रसिद्ध हैं तथा योगभाष्य-मेंभी लिखा है कि (प्रश्न, मनुष्यजाति श्रेष्ठ है कि नहि उत्तर, पशुवोंकी अपेक्षासे मनुष्यजाति श्रेष्ठ है और देवता तथा महर्षियोंकी अपेक्षासे नीच है इति) इसमे स्पष्टहि देवतायोंसे मनुष्यजातिको नीचपणा कथन किया है तथा देवतायोंका शरीर पृथिवीसे स्पर्श नहि करता उनके नेत्र नहि झपकते उनकी छाया नहि होती इत्यादि गुणयुक्त तेजोमय उनका शरीर सुननेमे आवे है सो

देवतायोंके समान मनुष्य कैसे होसकते हैं तथा ऋग्वेदमें लिखा है कि (मनुष्यलोककी चेष्टाको जाननेहारे और निमेषोन्मेषसे रहित पूजनीय बडे देवता अमरपदको भोगते हैं दिव्यविमानवाले अंतर्धानादिशक्तियुक्त पापसे रहित दिव्यशरीरवाले जगत्की भलाईकेलिये आकाशमे वसते हैं इति) तथा महाभारतके वनपर्वमें नलराजाके इतिहासमें लिखा है कि (जिनके शरीरमे पसीना नहि था और जिनके नेत्र नहि झपकतेथे जिनकी माला कुमलाईनहि थी जिनके वस्त्रोंमें धूल नहि लगी थी और जिनके पांव जमीनपर नहि लगेथे ऐसे देवतायोंको स्वयंवरमे दमयंतीने देखा इति) यातें मनुष्यजातिसे विलक्षण होनेसे देवतायोंका मनुष्योंसे उत्कृष्टपणा निश्चय करना योग्य है इति ॥ ३० ॥

पराभिधानमिति चेन्नातिप्रसंगात् ॥ ३१ ॥

यानि वेदे इन्द्रवरुणबृहस्पतिकश्यपादीनि नामानि श्रूयंते तान्यखिलानीश्वरस्यैव नामधेयानि संतीति चेत् नैवं मंतव्यं कुतः अतिप्रसंगात् अग्नीन्द्रवरुणरुद्रादित्यादयः शब्दा नेश्वरवाचकाः किंतु स्वस्वाभिधेयव्यक्तिविशेषवाचका एव यदि वेदे सर्वाणि नामा-

नीश्वरस्यैव भवेयुस्तदा सर्वत्र वेदार्थविषयेष्वतिप्रसंगो जायेत यत्र यस्येच्छा तत्रैवेश्वरनामयोजनं कुर्यात् तथासति वेदशब्दानां न कोपि व्यवस्थितोर्थः स्यात् संस्कृतकोशेषु च न कुत्रापीन्द्रवरुणरुद्रादित्यादिना-म्नामीश्वराभिधेयत्वमुपलभ्यते ततो न वेदोक्तेन्द्रादि-शब्दानामीश्वरनामधेयत्वम् ॥ ३१ ॥

पराभिधानमितिचेन्नातिप्रसंगात् ॥ वेदमे जितने इन्द्र वरुण बृहस्पति कश्यपादि नाम सुननेमे आते हैं सो सब ईश्वरकेहि नाम हैं दूसरी किसी व्यक्तिके वाचक नहि हैं ऐसी शंकाभी इस जगामे नहि करनी चहिये क्योंकि अग्नि इन्द्र वरुण आदित्य इत्यादि शब्द ईश्वरके वाचक नहि हैं किंतु अपणी अपनी लक्ष्यभूत व्यक्तियोंके हि वाचक हैं जो वेदमें सब नाम ईश्वरकेहि वाचक होवें तो सर्वत्र वेदके अर्थोंमे अति प्रसंग होवेगा अर्थात् जहां जिसकी इच्छा होगी तहां हि सो ईश्वरका नाम जोड-देगा तो ऐसे होनेसे फिर वेदके शब्दोंका कोईभी नि-श्चित अर्थ नहि होवेगा और संस्कृतके कोशोंमें कहींभी इन्द्र बरुण रुद्र आदित्य आदि नाम ईश्वरके वाचक नहि लिखे हैं यातें वेदोक्त इन्द्रादिशब्द ईश्वरके वाचक नहि हैं इति ॥ ३१ ॥

कथमेतद्विज्ञायते

आकृत्यादिश्रवणात् ॥ ३२ ॥

इन्द्रवरुणरुद्रादित्यादीनां आकृतिगुणस्थानादयो वेदे पृथक् श्रूयंते ततो न तानि नामानीश्वरस्य भवितुमर्हंति तथाहि 'तां अमदायवज्रहस्तपीतये जगृह्माते दक्षिणमिन्द्रहस्तं' नीलग्रीवाः शितिकंठा दिवं रुद्रा उपाश्रिताः' हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः हिरण्यपाणिः सविता' इति यजुर्वेदादिवाक्येष्विन्द्ररुद्रादित्यादीनां हस्तपादाद्यवयववत्त्वं श्रूयते नह्यव्यक्तस्येश्वरस्य वज्रहस्तत्वनीलकंठत्वहिरण्यकेशत्वादिकमुपपद्यते तस्मादिन्द्ररुद्रादीनि नामानि देवतावाचकान्येव संतीत्यवगंतव्यम् ॥ ३२ ॥

प्रश्न. यह कैसे जानाजावे कि इन्द्रादिक शब्द ईश्वरके वाचक नहि हैं । उत्तर, आकृत्यादिश्रवणात् ॥ इन्द्र वरुण रुद्र आदित्यादिकोंके आकार गुण और स्थान वेद तथा शास्त्रोंमे सुननेमे आते हैं इसलिये सो नाम ईश्वरके नहि होसकते क्योंकि (हे हाथमें वज्र धारणकरणे हारे इन्द्र तिसको पान करनेको ग्रहण करो, हे इन्द्र तेरा दहना हाथ हम ग्रहण करते हैं इति नीलग्रीवावाले शामकंठवाले रुद्र आकाशमें रहते हैं इति, सूर्यके दाढीमूछके

वाल और केश सुवर्ण जैसे हैं इति) इत्यादि यजुर्वेदके वाक्योंमें इन्द्र रुद्र सूर्य आदिकोंके हाथ पांव आदि अंग सुननेमें आते हैं और हाथमें वज्र नीलकंठ सुवर्ण-वर्ण केश इत्यादि लक्षण अव्यक्त ईश्वरके नहि हो सकते हैं यातें वेदमें इन्द्र रुद्र आदि नाम देवतायोंके वाचक हि हैं ऐसा निश्चय करना चहिये इति ॥ ३२ ॥

वचनभेदाच्च ॥ ३३ ॥

गीर्वाणभाषायां नियमोयं यदेकपुरुषं प्रत्येकमेव वचनं प्रयुज्यते वेदे तु 'इन्द्राग्नी इन्द्रवायू मित्रावरुणौ अग्नीषोमाभ्यां विश्वेदेवाः आदित्येभ्यः रुद्रेभ्यः दिवि-रुद्राः' इत्यादिपदेषु द्विवचनबहुवचनप्रयोगः प्रत्यक्षमे-वोपलभ्यते तत्कथमेतानि नामान्येकपुरुषवाचकानि भवितुमर्हंति यदि वेदमंत्रेष्विन्द्रः शिवः सवितेत्येव-मेकैकनामप्रयोगः स्यात् तदा तु कथंचित्तस्यार्थवशा-दीश्वरवाचित्वं भवेदपि परंत्विन्द्रः शचीपतिः शत-क्रतुर्वज्री वृत्रहा देवेन्द्रो महेन्द्रो मघवा देवेशः पुरु-हूतः 'शिवः कपर्दी नीलकंठो रुद्रः पिनाकी कृत्ति-वासाः शर्वस्त्र्यंबकः' 'सविता-सूर्यो विवस्वान् सहस्र-रश्मिरादित्यो हिरण्यपाणिः पूषा भास्वानि'त्येवं प्रसि-

द्धदेवतानामानि सर्वत्र वेदेषु प्रयुक्तान्युपलभ्यंते तदा कथं तेषामीश्वरवाचकत्वं संगच्छेत तस्माद्वेदोक्तानीन्द्रवरुणरुद्रादित्यादीनि नामानि तत्तद्देवतावाचकान्येव संतीति बोद्धव्यम् ॥ ३२ ॥

वचनभेदाच्च ॥ संस्कृतभाषामें ऐसा नियम है कि एक पुरुषके लिये एक वचनका हि प्रयोग होता है और वेदमें तो इन्द्राग्नी इन्द्रवायू मित्रावरुण अग्नीषोम विश्वेदेवा आदित्योंसे रुद्रोंसे आकाशमें रुद्र हैं इत्यादि पदोंमे द्विवचन और बहुवचनका प्रत्यक्ष प्रयोग देखनेमें आवे है तो यह सबी नाम एक पुरुषके कैसे होसकते हैं और जो कदाचित् वेदमंत्रोंमें इन्द्र शिव सविता इस प्रकारसे एकएक नामकाहि प्रयोग होता तो किसी प्रकारसे अर्थके फेरनेसे सो ईश्वरका नाम होभी सकता परंतु वेदमें तो इन्द्र शचीपति शतक्रतु वज्री वृत्रहा देवेन्द्र महेन्द्र मघवा देवेश पुरुहूत इत्यादि सब इन्द्रके प्रसिद्ध नाम लिखे हैं और शिव कपर्दी नीलकंठ रुद्र पिनाकी कृत्तिवासा शर्व त्र्यंबक इत्यादि शिवके नाम लिखे हैं तथा सविता सूर्य विवस्वान् सहस्ररश्मि आदित्य हिरण्यपाणि पूषा भास्वान् इत्यादि सूर्यके नाम लिखे हैं सो यह प्रसिद्ध देवतायोंके नाम सर्वत्र वेदमें लिखे हैं

सो यह ईश्वरके वाचक कैसे होसकते हैं यातें वेदोक्त इन्द्र वरुण रुद्र आदित्य आदि नाम देवतायोंके हि वाचक हैं ऐसा निश्चय करना योग्य है इति ॥ ३३ ॥

केचिदल्पज्ञा दृष्टार्थचरितार्थबुद्धयो देवसृष्टिमश्रद्दधाना देवानामल्पामेव संख्यां संगिरंते तन्निर्णयं दर्शयति

त्रयस्त्रिंशदितिचेन्न बहुवचनात् ॥ ३४ ॥

कति देवा याज्ञवल्क्य त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति बृहदारण्यकवचनानुसारेण त्रयस्त्रिंशदेव देवाः संतीति चेत् नैवं मंतव्यं कुतः बहुवचनात् तत्रैवाग्रिमवाक्येष्टवसुगणनायां के ते वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चांतरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चंद्रमाश्चनक्षत्राणि चैते वसव इत्यत्र नक्षत्राणीति बहुवचनं विद्यते तेन देवानां त्रयस्त्रिंशत्कोटयोपि ग्रहीतुं शक्यंते नक्षत्राणामनंतत्वात् नक्षत्राणां च देवस्थानत्वं प्रसिद्धमेव सर्वत्र शास्त्रेषु तथाचोक्तं महाभारते वनपर्वणि 'एते सुकृतिनः पार्थ स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः यान् दृष्टवानसि विभो तारारूपाणि भूतले

ददर्शाद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः तारारूपाणि यानीह दृश्यंते द्युतिमंति वै' ततो न देवसृष्टेर्मनुष्ये-भ्योऽल्पत्वमाशंकनीयम् ॥ ३४ ॥

कोई एक इस समयके प्रत्यक्ष पदार्थोंके माननेवाले लोक देवसृष्टिमें अविश्वास करतेहूये देवतायोंकी संख्या अल्प कथन करते हैं सो इसका निर्णय दिखलाते हैं । त्रयस्त्रिंशदितिचेन्न वहुवचनात् ॥ (हे याज्ञवल्क्य देवता कितने हैं तेतीस हैं सो कौन हैं आठ वसु ग्यारां रुद्र बारा आदित्य इन्द्र प्रजापति यह सब मिलाकर तेतीस हैं इति) इस बृहदारण्यक उपनिषत्के वचनके अनुसार तेतीस देवता हैं ऐसा मानना ठीक नहि है क्योंकि बृह-दारण्यकके उक्त वाक्यमेंहि आगे आठ वसुवोंकी गिन-तीमें सो वसु कौनसे हैं अग्नि पृथिवी वायु अंतरिक्ष आदित्य आकाश चंद्रमा और सब नक्षत्र यह आठ वसु हैं, तो यहां नक्षत्रशब्दमें बहुवचनका प्रयोग है तो इस बहुवचनसे तेतीस कोटिपर्यंत देवतायोंकी गिनतीभी होस-कती है क्योंकि नक्षत्रोंकी संख्या अनंत है और सब नक्ष-त्रदेवतायोंके स्थान हैं यह वार्ता सर्वत्र शास्त्रोमें प्रसिद्ध है तथा महाभारतके वनपर्वमें लिखा है (जब अर्जुन स्वर्गको जारहाथा तो आकाशमें नक्षत्रोंको देखकर अर्जुनने

सारथीसे पूछा कि यह क्या है तब सारथीने कहा हे अर्जुन, यह सब पुण्यात्मा लोक अपने विमानोंमें रहते हैं जिनको तूं पृथिवीमें तारारूपसे देखताथा तो फिर अर्जुन अद्भुत हजारों देवतायोंके विमानोंको देखताभया जोकि यहां पृथिवीपरसे प्रकाशवान् तारारूप दीखते हैं इति) यातें देवसृष्टिको मनुष्यसृष्टिसे न्यून नहि समझना चहिये इति ॥ २४ ॥

अन्यत्र संख्याधिक्याच्च ॥ २५ ॥

'त्रीणि शता त्रीसहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवानवचासपर्यन्' (यजुः अ. ३३ मं. ७) इत्यादिवेदमंत्रेष्वन्यत्र देवानां संख्या सहस्रत्रयादप्यधिका श्रूयते ततो न त्रयस्त्रिंशदाद्यल्पसंख्यावत्त्वं देवानां भवितुमर्हति त्रिसहस्रादिसंख्यापि प्रसंगवशात् संक्षेपाभिप्रायेणैवोक्ता वेदितव्या देवानां हि मनुष्याणामिव भूलोंके स्वर्गलोके विपुला सृष्टिर्वर्त्तते तत्र ये केचिन्महांतो यज्ञेषु भागान् बिभ्रति तेषामेवेन्द्रबृहस्पतिमुखानां वेदेषु नामधेयान्युपन्यस्तानि नान्येषां प्रयोजनाभावात् ततो न वेदप्रसिद्धा एव देवाः संतीति मंतव्यं देवलोकः स्वर्गलोक इत्यादिशब्दैश्च देवानां स्वर्गे महती वसतिरुपलक्ष्यते यदीश्वरेण सर्वा अपि जीवजातयोऽसंख्या-

ता एव निर्मिताः स कथं देवजातिमल्पसंख्याकां विरचयेत् 'किंचोर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन' इति कठोपनिषद्वाक्यानुसारेणोर्ध्वत एव सृष्टेर्निर्माणक्रमः प्रतीयते तेन स्वर्गलोकस्य मनुष्यलोकादग्रे निर्माणं निश्चीयते तस्माद्देवलोकस्य मनुष्यलोकादुत्तमत्वं निवासिजनसंख्याधिक्यं चावगंतव्यम् ॥ ३५

अन्यत्र संख्याधिक्याच्च । वेदमें दूसरी जगा देवतायोंकी संख्या अधिक लिखी होनेसेभी देवता तेतीस नहि मानने चहिये तथा यजुर्वेदके तेतीसवें अध्यायमें लिखा है कि (तीनसौ तीनहजार तेतीस और नौ देवता अग्निकी उपासना करते भये इति) इत्यादि वेदवचनोंमें प्रसिद्धहि तीनहजारसेभी अधिक देवतायोंकी संख्या लिखी है इसलिये तेतीस आदि अल्पसंख्या देवतायोंकी नहि होसकती है किंच यह तीनहजार संख्याभी प्रसंगसे थोडी लिखीहि जाननी चहिये क्योंकि देवतायोंकी तो मर्त्यलोकमें मनुष्योंकी न्यांई स्वर्गलोकमें वडीभारी वसती है उनमें जो कोई मुख्य मुख्य देवता यज्ञोंमें अपना भाग रखते हैं तिनहि इन्द्र बृहस्पति आदिकोंके नाम वेदमें लिखे हैं प्रयोजन नहि होनेसे दूसरे सवोंके नाम नहि लिखे हैं यातें वेदमें जितने देवतायोंके नाम

आते हैं उतनेहि देवता हैं ऐसा नहि मानलेना चहिये क्योंकि देवलोक स्वर्गलोक इत्यादि लोकशब्दसे मनुष्य-लोक शब्दकी न्यांई स्वर्गमें देवतायोंकी वडीभारी बसती प्रतीत होवे है किंच ईश्वरने जितनी जीव जातियां रची हैं सो सब असंख्यातहि देखनेमें आती हैं तो केवल देवताजातिको ईश्वर थोडी गिनतीकी क्यों रचेगा किंच (इस संसाररूपी वृक्षका ऊपर मूल है और नीचे शाखा हैं) इस कठउपनिषत्के वाक्यके अनुसार सृष्टिरचनाका क्रम पहले ऊपरसे प्रतीत होता है इससे स्वर्गलोकका मनुष्यलोकसे पहले निर्माण होना निश्चय होवे है यातें देवलोकका मनुष्यलोकसे श्रेष्ठपणा और बसतीका अधिकपणा निश्चय करना योग्य है इति ॥ ३५ ॥

संतु देवा निवसंतु स्वर्गे किमर्थमस्माभिस्ते पूजनीयाः

तदर्चनमुत्कृष्टत्वात् ॥ ३६ ॥

परमेश्वरसृष्टेर्नियमोयं यदुत्कृष्टजातेराश्रयणेनेतरेषामुपकारो जायते देवानां च मनुष्येभ्यः सर्वतः श्रेष्ठतमत्वं सर्वशास्त्रेषु प्रख्यातमेवातो मनुष्यैस्तेषामर्चनं युक्तमेव ॥ ३६ ॥

प्रश्न, यह वात मानी कि देवता हैं और सो स्वर्गमें

रहते हैं परंतु वह हमारे करके पूजनीय किस कारणसे हैं। उत्तर, तदर्चनमुत्कृष्टत्वात् ॥ परमेश्वरकी सृष्टिमें यह नियम है कि उच्चजातिके आश्रयसे नीच जातिका उपकार होवे है और देवतायोंका मनुष्यजातिसे सर्वप्रकारसे उत्तमपणा सर्वत्र शास्त्रोंमें प्रसिद्धहि है यातें मनुष्योंको देवतायोंका पूजन करना युक्तहि है इति ॥ ३६ ॥

उपकारकत्वाच्च ॥ ३७ ॥

मनुष्यलोकं प्रति देवानां महानुपकारो विद्यते तथाहि सर्वविधान्नफलादीनस्मत्खाद्यपदार्थानादित्यः स्वतेजसा पाचयति चंद्रश्च तेषु विविधरसानुपवेशयति वायुश्च तेषां पूतिभावमपनयति शतक्रतुश्च वर्षणेन तानुपपोषयत्येवमादयोन्येपि वरुणकुबेररुद्रबृहस्पतिप्रभृतयो देवाः स्वस्वसंबंधानुसारेण मनुष्यलोकमुपकुर्वंत्यतस्तेषां मनुष्यैरभ्यर्चनं युक्तमेवान्यथा कृतघ्नतापत्तिरेव स्यात् तदुक्तं भगवद्गीतायां 'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव स' इति। नच सूर्यचंद्रादीनां जडत्वमभ्युपेयं सर्वत्र हि वेदेष्वादित्यादीनां स्तुतयो यज्ञेषु बलिदानानि चाभिहितानि संति नहि जडानां स्तुतिकरणावाहनादिकमुपपद्यते तस्मादग्न्यादित्यवायुचंद्रा-

दीनि नामानि तेषामभिमानिनां चेतनदेवानां वाचकानि संतीत्यवसेयं 'आतिवाहिकास्तल्लिंगात्' इत्यस्मिन् सूत्रे ब्रह्ममीमांसायां स्पष्टीकृतमेतत् 'योऽसावादित्ये पुरुषः' इति यजुर्वेदवचनानुसारेणापि सूर्यादीनां ग्रहमंडलानां चेतनदेवताधिष्ठितत्वमवसेयम् ॥ ३७ ॥

उपकारकत्वाच्च ॥ मनुष्योंकेप्रति देवतायोंका उपकार होनेसेभी देवतायोंका पूजन करना योग्य है क्योंकि मनुष्यलोकपर देवतायोंका वडा भारी उपकार देखने और सुननेमें आवे है जैसेकि सब हमारे खानेलायक सर्व प्रकारके अन्नफलादिक पदार्थोंको सूरज अपने तेजसे पकाता है और चंद्रमा अपनी किरणोंद्वारा तिनमें नानाप्रकारके रस डालता है और वायु तिनको गलने सडनेसे बचाता है तथा इन्द्र वर्षाद्वारा तिनका पोषण करता है इसीप्रकार वरुण कुवेर रुद्र बृहस्पति आदि देवताभी अपने अपने संबंधके अनुसार मनुष्यलोकका उपकार करते हैं इसलिये मनुष्योंको तिनका पूजन करना योग्यहि है नहि तो कृतघ्नपणा होवेगा तथा भगवद्गीतामें लिखा है कि (देवतायोंकरके दियेहूये भोग्य पदार्थोंको जो मनुष्य तिनके अर्पण किये बिना आपहि भोगता है सो देवतायोंका चोर है इति) और इन

सूरज चंद्रमा आदिको जडरूप नहि समझना चहिये 'क्योंकि सर्वत्र वेदोंमें सूर्यादिकोंकी स्तुतियां और यज्ञमें बलिदानादिक लिखेहूये हैं और जडपदार्थोंकी स्तुति करना आवाहन करना आदि युक्त नहि होसकता इस-लिये अग्नि वायु सूर्य चंद्रमा आदि नाम तिनके अभि-मानी चेतनदेवतायोंके वाचक जानने चहिये तथा (उपा-सकपुरुषको जो अग्नि आदिदेवतायोंकरके ब्रह्मलोक लेजाना वेदमें लिखा है सो तिनके अभिमानी देवता-योंकाहि समझना चहिये इति) इस ब्रह्ममीमांसाके सूत्रमें व्यासजीने यह वार्ता स्पष्ट करी है तथा (जो सूर्यमं-डलमें पुरुष है इति) इसयजुर्वेदके वाक्यके अनुसार-सेभी सूर्यादिमंडल चेतनदेवतायोंकरके संयुक्त हैं ऐसा जानना चहिये इति ॥ ३७ ॥

यदि परमेश्वरेणैवैते सर्वे देवा निर्मितास्तत्प्रेरि-ताश्च ते मनुष्यलोकहिते प्रवर्त्तंते तत्कथमीश्वरस्यैवा-राधनं न विधेयं

तद्द्वारा कार्यसिद्धेर्लोकवत् ॥ ३८ ॥

यद्यपीदमखिलं जगदीश्वरेणैव निर्मितमतस्तस्यैव मुख्यमुपकारित्वमास्ति तथापि यत्र यस्य द्वारा कार्य-

सिद्धिर्जायते तत्र तस्यैव साक्षादुपकारित्वं भवति यतो देवताद्वारा मनुष्यलोकस्य हितसाधनं जायते ततः साक्षाद्देवानामेवोपकारो मंतव्यः यथा लोके पुत्रशरीरनिर्माणपोषणादिकमखिलमीश्वररचितैरेव द्रव्यैर्जायते परंतु तत्र द्वारभूतस्य पितुर्मातुश्च साक्षादुपकारित्वमुपलभ्यते तेन यावज्जीवं तयोरर्चनं पुत्रेण कार्यमिति तस्य प्रतीकारः 'मातृदेवो भव पितृदेवो भव' इति वेदवचनात् एवमन्यत्रापि राजभृत्यादिषु योज्यं तस्माद्देवानां साक्षादुपकारित्वात्तेषामर्चनं मनुष्यैरवश्यं विधेयम् ॥ ३८ ॥

शंका। जो यह सर्व देवता परमेश्वरनेहि रचे हैं और तिसकी प्रेरणासेहि मनुष्यलोकके हितमें प्रवृत्त होते हैं तो फिर तिस ईश्वरकाहि आराधन क्यों न कियाजावे। समाधान, तद्द्वारा कार्यसिद्धेर्लोकवत् ॥ यद्यपि यह संपूर्ण जगत् ईश्वरनेहि निर्माण किया है इसलिये उसीका मुख्य उपकारीपणा है तथापि जहां जिसकेद्वारा कार्यकी सिद्धि होवे है तो तहां साक्षात् उसीका उपकार होवे है सो देवतायोंके द्वारा मनुष्यलोकका हित सिद्ध होवे है इसलिये साक्षात् देवतायोंकाहि उपकार मानना योग्य है जैसे लोकमें पुत्रके शरीरका निर्माण पोषण आदि

कार्य सबी ईश्वरके रचेहूये पदार्थोंसेहि होवे है परंतु तहां द्वारभूत जो मातापिता हैं तिनकाहि साक्षात् उपकार प्रतीत होवे है सो आयुषपर्यंत पुत्रको मातापिताका सत्कार करना योग्य है यही उसका प्रतीकार है तथा वेदमेंभी लिखा है (हे पुरुष तूं माता और पिताको देवतायोंके समान जानकर पूजन कर इति) इसीप्रकार दूसरी जगा राजा और नौकर आदिकोंमेंभी साक्षात् राजा आदिकोंका उपकार जानलेना चहिये यातें देवतायोंका साक्षात् उपकारीपणा होनेसे मनुष्योंको तिनका अवश्य पूजन करना योग्य है इति ॥ ३८ ॥

किंच

परस्परोपकारित्वाच्च विश्वस्य ॥ ३९ ॥

यद्यपीश्वरः सर्वव्यापकत्वात्सर्वांतर्यामितयावस्थितः सन् सर्वस्य जगतो व्यवहारजातस्य निर्वहनं करोति परंतु यद्यत्कार्यं तेन क्रियते तत्तदखिलमन्यव्यक्तिद्वारैव क्रियमाणमुपलभ्यते नहि कश्चिदीश्वरेण स्वयमागत्य कस्यचित्कार्यं कृतमिति कुत्रापि श्रूयते सर्वं किलेदं जगत्तेन परस्परोपकारिनिर्मितमतो भूतैरेव भूतानामुपकारो जायते न तत्रेश्वरस्य पृथक् प्रयासावश्यकत्वं

दृश्यंते हि लोके निर्धना धनार्थिनो धनिनामेव परि-
चर्यां कुर्वंति नेश्वरस्य विद्याभिलाषुकाश्च पंडितानेवोपाश्रयंते नेश्वरं रोगिणो वैद्यानेव क्षुधिताश्चान्नदा-
तॄनित्येवं सर्वस्य भूतजातस्य परस्परोपकारित्वं प्रसि-
द्धमेवानुभूयते ततः परस्परं पूज्यत्वमपि युक्तमेवान्य-
था कृतघ्नत्वापत्तेरतो मनुष्यैरवश्यं देवानामर्चनं कर्त्तव्यं
तथा च गीतायां श्रीकृष्णवाक्यं 'देवान् भावयतानेन
ते देवा भावयंतु वः परस्परं भावयंतः श्रेयः परम-
वाप्स्यथेति ॥ ३९ ॥

परस्परोपकारित्वाच्च विश्वस्य ॥ यद्यपि सर्व व्यापक
होनेसे अंतर्यामी रूपसे स्थितभया ईश्वरहि सर्वजगत्के
व्यवहारको निर्वहन करता है तथापि जो जो कार्य ईश्वर
करता है सो सो सबी अन्यव्यक्तिद्वाराहि कियाहूया
देखनेमें आवे है साक्षात् ईश्वरने आयकर यह काम
किया यह कहींभी देखने सुननेमें नहि आता सो यह
सबी जगत् उसने परस्पर उपकारी रचा है इसलिये
जीवोंद्वाराहि जीवोंका उपकार होवे है तिसमें ईश्वरको
जुदा परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहि है तथा लोकमें
भी देखनेमें आवे है कि धनकी इच्छावाले निर्धन लोक
धनीलोकोंकीहि सेवा करते हैं ईश्वरकी नहि करते और

विद्यार्थी लोक पंडितोंके पासहि पढनेको जाते हैं ईश्वरके पास नहि जाते तथा रोगीलोक वैद्योंके पासहि जाते हैं और क्षुधार्त लोक अन्नदातायोंके पास जाते हैं इसीप्रकार सर्व भूतप्राणियोंका परस्पर उपकारीपणा जगत्में प्रसिद्ध देखनेमें आता है इसलिये परस्पर तिनका पूज्यपणाभी युक्तहि है नहि तो कृतघ्नपणेकी प्राप्ति होवेगी यातेंभी मनुष्योंको अवश्य देवतायोंका पूजन करना योग्य है तथा गीतामें श्रीकृष्णजीकाभी वचन है कि (हे मनुष्यो तुम इस यज्ञ करके देवतायोंका यजन करो और वह देवता तुमारा पालन करें इसप्रकार तुम परस्पर उपकार करते हूये उत्तम सुखको प्राप्त होवोगे) इति ॥ ३९ ॥

अवगतमिदं देवानां पूज्यत्वं कैस्तु साधनैस्तेषामभ्यर्चनं क्रियते

यज्ञतपोमंत्रैर्देवाराधनम् ॥ ४० ॥

यज्ञेन तपसा मंत्रानुष्ठानेनच देवानामाराधनं भवति देवाराधने त्रीण्येतानि मुख्यसाधनानि संतीति बोद्धव्यम् ॥ ४० ॥

प्रश्न, यह वार्ता मालूम हूई कि देवतायोंका पूजन

अवश्य करना चहिये परंतु किन साधनोंसें तिनका पूजन किया जावे है। उत्तर, यज्ञतपोमंत्रैर्देवाराधनम् ॥ यज्ञों-करके तप करके और मंत्रोंके अनुष्ठान करके देवता-योंका आराधन कियाजावे है अर्थात् देवतायोंके आरा-धन करनेमें यज्ञ तप और मंत्रानुष्ठान यह तीन मुख्य साधन जानने चहिये इति ॥ ४० ॥

तत्र

देवतोद्देशेनाग्नौ द्रव्यत्यागो यज्ञः ॥ ४१ ॥

विधिवदग्निमुपसमाधाय तिलतंडुलयवशर्कराघृ-तादिद्रव्याणांवेदमंत्रोच्चारणपूर्वकं यद्देवतोद्देशेन हवनं क्रियते स यज्ञ इत्यभिधीयते ज्योतिष्टोमयज्ञश्चातुर्मास्य यज्ञ इत्यादयो बहवो यज्ञा वेदेषु प्रसिद्धास्तेषु देवाना-मावाहनार्चनस्तवनहोमादिभिराराधनं वेदोक्तवि-धिना भवत्यतो देवाराधनेप्सुना सतिसामर्थ्ये यज्ञैरेव तेषामाराधनं विधेयम् ॥ ४१ ॥

तिनमें प्रथम यज्ञशब्दका अर्थ निरूपण करते हैं (देवतोद्देशेनाग्नौद्रव्यत्यागोयज्ञः) कुंड या स्थंडिलमें विधि पूर्वक अग्निको स्थापन करके तिल चावल यव शर्करा घृत आदिपदार्थोंका वेदमंत्रोंके उच्चारणपूर्वक जो देवता-

योंके निमित्त होम करना है सो यज्ञ कहिये है ॥ ज्यो-तिष्टोमयज्ञ चातुर्मास्ययज्ञ इत्यादि नामके बहुतसे यज्ञ वेदोंमें प्रसिद्ध हैं तिनमें देवतायोंका आवाहन अर्चन स्तवन होम आदिकों करके वेदोक्त विधिसे आराधन होवे है सो देवताराधनकी इच्छावाले पुरुषको जो द्रव्या दिकी अनुकूलता होवे तो यज्ञोंकरकेहि देवतायोंका आराधन करना योग्य है इति ॥ ४१ ॥

नित्येन वा ॥ ४२ ॥

यत्तु देवतोद्देशेन प्रतिदिनं गृहेषु हवनं क्रियते स नित्ययज्ञोऽभिधीयते तेनापि विधिवदनुष्ठितेन देवाना माराधनं भवत्यतो महायज्ञवितानेऽसमर्थैर्नरैर्नित्यय-ज्ञेनैव देवानामभ्यर्चनं करणीयम् ॥ ४२ ॥

नित्येन वा ॥ अथवा देवतायोंके निमित्त जो प्रति-दिन घरमें होम कियाजावे है सो नित्ययज्ञ कहिये है तिस विधिपूर्वक कियेहूये नित्ययज्ञ करकेभी देवतायोंका आराधन होवे है सो ज्योतिष्टोमादि वडे यज्ञोंके करनेमें असमर्थ जो पुरुष हैं तिनको नित्ययज्ञ करकेहि देवता-योंका पूजन करना योग्य है इति ॥ ४२ ॥

पूर्वपादे पशुहिंसा युक्तत्वाद्यज्ञस्य निंदितत्वमभिहितं तत्कथमधुना यज्ञेन देवताराधनमुच्यते।

प्रियवस्त्वर्पणार्थत्वान्ननियमः ॥ ४३ ॥

देवानां पशुयागेनैव यजनं भवतीति नियमो नास्ति कुतः प्रियवस्त्वर्पणार्थत्वात् यज्ञस्य हि प्रियवस्त्वर्पणमेव प्रयोजनं यो हि देवानां तुष्टिकामः स्यात्ते नान्नदधिघृतशर्करापशुधनादिस्वप्रियपदार्थानां देवेभ्यो यज्ञे समपर्णं कार्यमित्यभिप्रायः ततः पशुप्रयोगमंतरेणापि केवलं यवतिलदधिघृतशर्करादिभिर्मेध्यद्रव्यैः सर्वत्र यज्ञविधिषु देवतायजनं कृतं देवानां तुष्टिकरं यथोक्तफलावहं च भवतीति वेदितव्यं तथा चोक्तं भारतमोक्षधर्मे (यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यंति देवताः। नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथेति ॥ ४३ ॥

प्रश्न० पिछले द्वितीयपादमें पशुहिंसायुक्त होनेसे यज्ञका निंदितपणा कथन किया है तो अव यहां तिस यज्ञ करके देवतायों का आराधन करना कैसे कथन करते हो उत्तर० (प्रियवस्त्वर्पणार्थत्वान्ननियमः) देवतायों का पशुयज्ञसें हि यजन होवे है ऐसा नियम नहि

है क्योंकि यज्ञका केवल प्रियवस्तु अर्पण करना हि प्रयोजन है अर्थात् जिस पुरुषको देवतायों को प्रसन्न करनेकी कामना होवे तो सो अन्न दधि घृत शक्कर पशु धन आदि अपने प्रिय पदार्थों को यज्ञमें देवतायों को अर्पण करे यह अभिप्राय है इसलिये पशु बलिदानके विना भी केवल यव तिल दधि घृत शक्कर आदि पवित्र पदार्थोंसें सब जगा यज्ञविधियोंमें यजन किया हूयाभी देवतायों की प्रसन्नता का तथा शास्त्रोक्त फलकी प्राप्तिका कारण होवे है तथा महाभारतके मोक्ष धर्मपर्वमेंभी लिखा है जो हवनके पवित्र पदार्थ हैं तिन करके और नमस्कार करके घृतसे तथा सोम आदि औषधियों करके देवता प्रसन्न होते हैं इति ॥ ४३ ॥

कथमेतन्निश्चीयते यज्ञस्य प्रियवस्त्वर्पणमेव प्रयोजनमस्तीत्याह

स्वांगावध्यर्पणाख्यानात् ॥ ४४ ॥

यत्र कुत्रापि यदा यज्ञद्वारा शीघ्रमेव कार्यसिद्धिरभीप्सिताभूत् तदा तत्र पूर्वैर्यजमानैः स्वशरीरपर्यंतमपि यज्ञकुंडेषु समर्पितमासीत् यथा सोमको राजा संतानवृद्ध्यर्थं स्वपुत्रं होमयामास रावणश्च शिवतुष्टये

स्वशिरश्छेदनं कृत्वाग्नौ जुहाव राजा विपश्चिदपि स्व-
कलेवरमग्निदेवता प्रसन्नतार्थमग्निकुंडे समर्पयामासे-
त्यादीन्यनेकान्याख्यानानि महाभारतादिषु प्रसिद्धानि
संत्यतः प्रियवस्त्वर्पणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्तीति
विज्ञेयमतो न तत्र पशुप्रयोगस्यावश्यकत्वम् ॥ ४४ ॥

प्रश्न० इस वार्ताका कैसे निश्चय होवे कि यज्ञका
केवल प्रिय वस्तुवोंका अर्पणहि प्रयोजन है उत्तर० (स्वां-
गावध्यर्पणाख्यानात्) जहां कहीं जिस कालमें यज्ञ
द्वारा शीघ्रहि किसी कामनाकी सिद्धिकी आवश्यकता
होती थी तो वहां पहलेके यजमान लोक अपने शरीर-
तकभी यज्ञ कुंडोंमें समर्पण कर देते थे महाभारतके वन-
पर्वमें लिखा है कि सोमक नाम राजाने अधिक संता-
नकी कामनासे अपने पुत्रको अग्निमें होम दिया था
और रामायणमें लिखा है कि राज्यकी कामनासें महा-
देवकी प्रसन्नताके निमित्त रावणने अपने सिर काटकर
होम दिये थे तथा योगवासिष्ठमें लिखा है कि राजा वि-
पश्चित्ने अग्नि देवताकी प्रसन्नताके निमित्त अपना सारा
शरीर अग्निकुंडमें अर्पण कर दिया था इत्यादि अनेक
इतिहास पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं यातें यज्ञमें केवल प्रिय

वस्तु अर्पण करनेकाही प्रयोजन है ऐसा जानना चहिये इसलिये उसमें पशु वलि दानकी आवश्यकता नहि है इति ॥ ४४ ॥

वेदोक्तविध्येकांशं हित्वा यज्ञादिकर्मानुष्ठाने तु फले वैषम्यं भविष्यतीति चेत्

विधिभेदेपि लक्ष्याभेदात्फलसाम्यम् ॥४५॥

वेदविधयो हि पुरुषं प्रतीतिकर्त्तव्यतामेव बोधयंति न स्वतंत्रया तं नियमयंति देवान्यजेत् इतिप्राप्ते कथं यजेदित्यपेक्षायामित्थमेतैर्द्रव्यैर्यजेदित्येवं विधेः पथदर्शकत्वमेव न स्वतंत्रतया नियामकत्वमतएवाखिला विधयो मनुष्यानुकूलैरेव यवतिलतंडुलादिद्रव्यैरुपकल्पिताः संति नो चेत् सिंहेन रक्षसा पीयूषेण वा यजेदिति कथं न विदध्यात् तस्माद्विधिभेदेपि सर्वेषां याजिनां देवताराधनात्मकलक्ष्यस्यैकत्वात्तुल्यमेवफलं भवतीति वेदितव्यं यथैकं नगरं लक्ष्यीकृत्य पृथग्भिरपि मार्गैर्गच्छंतः पांथास्तत्प्राप्नुवंत्येवमेवात्रापि द्रष्टव्यं ततो यवतिलतंडुलदधिघृतशर्करादिपवित्रद्रव्यहोमयुक्तेनैव यज्ञेनात्रदेवताराधनं विधीयत इति विज्ञेयम् ॥ ४५ ॥

वेदोक्त विधिका एक अंश छोडकर यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठान करनेमें तो फलकी प्राप्तिमें न्यून अधिकपणा हो जायगा ऐसी शंका होनेसें समाधान कथन करे हैं (विधिभेदेपि लक्ष्याभेदात्फलसाम्यम्) वेदकी सर्व विधियां पुरुषके प्रति केवल कर्म करनेकी रीति बतलाती हैं स्वतंत्ररूपसें तिसको नियमसें बंधन नहि करती कि ऐसेही करना चहिये देवता यजनका प्रसंग होनेपर किस प्रकारसे यजन करे ऐसी अपेक्षा होनेसे इस रीतिसें इन पदार्थोंसे यजन करे इस प्रकार वेदविधि पुरुषको कर्म करनेका मार्ग मात्र बतलाती हैं उसको स्वतंत्र रूपसे नियमबंधन नहि करती इसी लिये मनुष्योंके अनुकूल जो यव तिल तंडुल घृत आदि पदार्थ हैं तिनसें ही सर्व विधियां बनी हुई हैं और जो विधि स्वतंत्र होती तो फिर सिंहसे राक्षससें वा अमृतसें यजन करना क्यों न विधान करती परंतु ऐसा नहि करके केवल मनुष्योंके अनुकूल पदार्थोंसें यजन करना विधान करती हैं इसलिये यजन करनेमें विधिमें किसी जगा कुछ भेद होनेपरभी सब यजन करनेवालोंका देवताराधन रूप लक्ष्य एकही होनेसें तिन सबको तुल्य फलकीही प्राप्ति होवे है न्यून अधिक नहि होवे है जैसे एक नगरकी तरफ भिन्न भिन्न मार्गोंसे भी

जाते हूये पथिक लोक उसको प्राप्त हो जाते हैं तैसेहि यहांभी समझ लेना चहिये इसलिये यहांपर यव तिल तंडुल दधि घृत शक्कर आदि पवित्र पदार्थोंके होमयुक्त यज्ञ करके ही देवतायोंका आराधन करना विधान किया है ऐसा जानना चहिये इति ॥ ४५ ॥

वन्हौ प्रास्ताः किलाहुतयः कथं देवानां तृप्तिकारणतामुपायांति

उद्देशहेतुकत्वात् ॥ ४६ ॥

'अग्ने देवानिहावह जज्ञानोवृक्तबर्हिषे असिहोता न ईड्यः' (साम. प्रपा. २ मं. ६) इति वेदवचनानुसारेण होमकाले वेदोक्ततत्तन्मंत्रैरावाहनेन देवानां सूक्ष्मरूपेणाग्निसांनिध्यं जायते तत्र यां देवतामुद्दिश्याहुतिप्रक्षेपः क्रियते सैव तां रससारांशरूपेणाहुतिं गृह्णाति यथा बहूनां जनानां समुदाये यस्य नामोच्चारणेन यद्वस्तु प्रदीयते स एव तदुपादत्ते नेतरस्तद्वदेव यज्ञेपि द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

प्रश्न, अग्निमें डालीहूई आहुतीसे देवतायोंकी कैसे तृप्ति होवे है। उत्तर, उद्देशहेतुकत्वात् ॥ (हे अग्नि यज्ञमें होम करनेवाला पूज्य और सर्वज्ञ जो तूं है सो

यज्ञके भाग ग्रहण करनेकेलिये देवतायोंको यहां लाव)
इस सामवेदके मंत्रके अनुसार यज्ञमे होम करनेमे वेदो-
क्तमंत्रोंसे आवाहन करनेसे देवतायोंकी सूक्ष्मरूपसे अ-
ग्निमे संनिधि होवे है तो तहां जिस देवताके निमित्तसे
आहुति डालीजाती है तो सोई देवता उसको सारांशसे
ग्रहण करे है जैसे वहुत मनुष्योंके समुदायमें जिसके
नाम उच्चारणसे जो वस्तु दीजावे है सोई तिसको लेता
है इसी प्रकार यज्ञमेंभी जानना चहिये इति ॥ ४६ ॥

देवाहि दिवि दूरे निवसंति भूमौ क्रियमाणस्य यज्ञ-
स्य कथं तेषां विज्ञानं जायते

सर्वज्ञत्वात्तज्ज्ञानम् ॥ ४७ ॥

ये ये खलु स्वर्गे यज्ञभागभुजः प्रधानदेवाः संति
सर्वेपि ते सर्वज्ञत्वगुणविशिष्टा भूमंडलगताशेषवृत्तं
दूरादेव ज्ञानमयेन चक्षुषावलोकयंति यदा यत्र यज्ञा-
रंभो जायते तदा ते तत्र स्वस्वमंत्राहूताः स्वस्वभाग-
ग्रहणाय सूक्ष्मरूपेण सांनिध्यं भजंते ततो दूरे गता-
नामपि देवानां यज्ञे समागमनं युक्तमेव तथाच महा-
भारते वनपर्वणि नलोपाख्याने 'प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिं
चानुत्तमां शुभाम्। नैषधाय ददौ शक्रः प्रीयमाणः

शचीपतिः इत्यतः केषांचिद्देवकृपाभाजां मनुष्याणां यज्ञेषु प्रत्यक्षमपि तेषां दर्शनं भवतीति विज्ञेयम् ॥४७॥

प्रश्न, देवतातो दूर आकाशमें रहते हैं सो पृथिवीमे कियेहूये यज्ञका तिनको ज्ञान कैसे होवे है । उत्तर, सर्वज्ञत्वात्तज्ज्ञानम् ॥ जोजो स्वर्गमें यज्ञके भागलेनेवाले प्रधानदेवता हैं सो सबी सर्वज्ञ होनेसे पृथिवीमें होनेहारे वृत्तांतोंको दूरसेहि ज्ञानरूप नेत्रोंसे देखते हैं सो जब जहां यज्ञका आरंभ होवे है तो तहां सो अपने अपने भागके ग्रहण करनेके लिये सूक्ष्म रूपसे समीपवर्त्ती होजाते हैं इसलिये दूर रहतेहूये देवतायोंकाभी यज्ञमें आना युक्त है तथा महाभारतके वनपर्वमे नलराजाके इतिहासमे लिखा है कि (इन्द्रने प्रसन्न होकर नलराजाको वरदान दिया कि जहां तूं जाना चाहेगा बिना रोकटोक चला जावेगा और यज्ञमें हमारा प्रत्यक्ष दर्शन करेगा) इति सो जिस मनु गृह्णाति देवतायोंकी विशेष कृपा होवे है तो उसको यज्ञमे उनका प्रत्यक्ष दर्शनभी हो सके है यातें यज्ञमें देवतायोंका आना युक्त है इति ॥ ४७ ॥

यद्येककालावच्छेदेन भुवि बहुषु देशेषु बहवो यज्ञाः समारब्धा भवंति तदा तेषु सर्वेषु कथं देवानां सांनिध्यं भवितुं शक्यं

युगपत्सांनिध्यं सामर्थ्यात् ॥ ४८ ॥

अस्ति देवानामेककालावच्छेदेन युगपदनेकशरीरनिर्माणसामर्थ्यं अपि यज्ञसहस्रेषु समकालमाहूतास्ते सर्वत्रोपस्थातुं शक्नुवंति 'रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाकृण्वानस्तन्वंपरिस्वाम् (ऋ. मं. ३ अ. ४ सू. ५३ मं. ८) इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋ. मं. ६ अ. ४ सूक्त. ४७ मं. १८) इति वेदवचनात् 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' आत्मनांच सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ। योगः कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्' इति योगशास्त्रमहाभारतवचनानुसारेणच यदि योगबलेन मनुष्याणामपि युगपदनेकशरीरधारणसामर्थ्यं जायते प्रसिद्धंच पुराणेषु सौभर्यादिमुनीनां युगपदनेकशरीरनिर्माणं तदा देवानां किमु वक्तव्यमेककालावच्छेदेन युगपदनेकयज्ञेषूपस्थानम् ॥ ४८ ॥

प्रश्न, जो पृथिवीमें एकहि कालमें बहुतसे यज्ञोंका आरंभ होवे तो तिन सर्वमें देवतायोंका एकहि कालमें समीपवर्ति होना कैसे संभवे है। उत्तर, युगपत्सांनिध्यं सामर्थ्यात् ॥ एक कालमेंहि अनेक शरीर धारण करनेकी देवतायोंमें सामर्थ्य होवे है इसलिये हजारों यज्ञोंमेंभी सो आवाहन कियेहूये एक कालमेंहि सब जगा

समीपवर्ति हो सकते हैं तथा ऋग्वेदमेंभी लिखा है कि (इन्द्रं अपनी योगमायाकरके अपने अनेक रूप वनाय- लेताहै इति) तथा (इन्द्र अपनी शक्तिसे अनेक रूपवाला हो- जाता है इति)तथा योगशास्त्रमेंभी लिखा है कि (जव योगी अपने वहुतसे शरीर वनाता है तो पहले अंतःकरणसे दूसरे नवीन चित्त रच लेता है इति) तथा महाभारतके शां- तिपर्वमेंभी लिखा है कि (भीष्मजी कहते हैं हे युधि- ष्ठिर योगीपुरुष अपने अनेक शरीरोंको वनाय लेता है और फिर तिनसे जुदा जुदा पृथिवीमें विचरता है इति) इसप्रकार जव मनुष्योंमेंभी योगवलसे अनेक शरीर धारण करनेकी सामर्थ्य हो जावे है जैसे कि पुराणोंमें सौभरी आदि ऋषियोंका अनेक शरीर धारण करना प्रसिद्ध है तो फिर देवतायोंके एक कालमें अनेक यज्ञोंमें समीप- वर्ति होनेमे क्या कहना है इति ॥ ४८ ॥

इत्थं सूत्रगतं यज्ञपदं पंचभिः सूत्रैर्व्याख्यायाधुना तपः पदं व्याचष्टे

तपस्तदर्थं द्वंद्वसहनम् ॥ ४९ ॥

स्वाभीष्टदेवतानिमित्तेन यत्क्षुधापिपासाशीतोष्णा- दीनां द्वंद्वानां सहनं कृच्छ्रचांद्रायणादि व्रतानांच वि- धिवदुपसेवनं तत्तप इत्युच्यते मनोभिलषि भि-

वांच्छया देवतोद्देशेन शास्त्रोक्तविधिनाहठपूर्वककाय‌क्लेशसहनात्मकेन तपसा देवानामाराधनं कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

इसप्रकार पांच सूत्रोंकरके यज्ञपदका व्याख्यान करके अब तपपदका निरूपण करते हैं। तपस्तदर्थं द्वंद्वसहनम् ॥ अपने इष्टदेवताके निमित्तसे जो क्षुधा पिपासा शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंका सहन करना है अथवा कृच्छचांद्रायणादिक व्रतोंका सेवन करना है सो तप कहिये है सो मनोवांछित वर प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्तविधिसे हठपूर्वक शरीरमें क्लेश सहनरूप तप करकेभी देवतायोंका आराधन करना योग्य है इति ॥ ४९ ॥

किंच

संयमान्वितं फलाधिक्यात् ॥ ५० ॥

तदेतत्तपः संयमान्वितमेवाचरणीयं सर्वेन्द्रियविषयपरिहारपूर्वकमासेवितं हि तपोविशेषफलाय कल्पते अवशीकृतेन्द्रियाणां तपश्छिद्रेषु भग्ननियमानांतु न यथोक्तफलसिद्धिरुपजायते ततस्तपस्विनामिन्द्रियसंयमोवश्यमनुष्ठेयः संयमान्वितं विधिपूर्वकं दीर्घकालमखंडितं सेवितेन तीव्रतपसेष्टदेवतायास्तुष्टिर्जायते

यां ब्रह्मादिदेवतामुद्दिश्य तपः कृतं भवति परिपक्वता-
नुपगते तपसि सैव देवता तमुपासकमभीष्टवरप्रदाना-
दिनानुगृह्णाति ततः स लब्धवरो यथेप्सितभोगान-
त्रानुभूय देहांते तस्याएव देवतायाः सायुज्यमवाप्नोति
तथाहि ध्रुवेन विष्णुमुद्दिश्य तपश्चरणमकारि ब्रह्माण-
मुद्दिश्य हिरण्यकशिपुस्तपश्चकार रावणेनच शिवमु-
द्दिश्य तपस्तप्तमित्याद्यनेकाख्यानानि पुराणेषु प्रसि-
द्धानि सर्वैश्च तैर्ध्रुवादिभिर्देवताप्रसादेनाभीष्टानि वरा-
ण्यवाप्तानि ततो यज्ञेनेव तपसापि मनुष्यैर्देवाराधनं
करणीयम् ॥ ५० ॥

संयमान्वितं फलाधिक्यात् ॥ सो यह तप संयमपू-
र्वकहि करना चहिये क्योंकि सर्व इंद्रियोंके विषयोंके
परित्यागपूर्वक किया हूयाहि तप अधिक फलका हेतु
होवे है और जो पुरुष जितेंद्रिय नहि रहकर तपके बीच-
बीचमें नियम भंग कर देते हैं तिनको यथार्थ फलकी
सिद्धि नहि होवे है यातें तपस्वियोंको इन्द्रियोंका संयम
अवश्य करना योग्य है सो संयमयुक्त विधिपूर्वक दीर्घ-
काल अखंडित तीव्र तप करनेसे इष्टदेवताकी प्रसन्नता
होवे है अर्थात् जिस ब्रह्मा विष्णु आदिक देवताके निमि-
त्तसे तप किया होवे सोई देवता तपके परिपक्व होनेपर

तिस उपासकको वरप्रदानद्वारा अनुग्रह करता है और सो उपासक वरको प्राप्त हूया रुचि अनुसार इस लोकमें भोगोंको भोगकरके शरीरके अंतकालमें तिसहि देवताके लोकको प्राप्त होवे है जैसेकि ध्रुवने विष्णुके निमित्त तप किया था और हिरण्यकशिपुने ब्रह्माके निमित्त तप किया था तथा रावणने शिवके निमित्त तप किया था इत्यादि अनेक इतिहास पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं और तिन ध्रुवादिक सर्वोंको देवतायोंकी प्रसन्नतासे अभीष्टवरोंकी प्राप्ति होती भई है यातें यज्ञकी न्याई तप करकेभी मनुष्योंको देवतायोंका आराधन करना योग्य है इति ॥ ५० ॥

एवं सूत्रद्वयेन तपः पदं व्याख्यायेदानीं मंत्रपदं निरूपयति

मंत्रस्तन्नामांकितं पदम् ॥ ५१ ॥

देवतानामान्वितं शब्दक्रमयोजनया कृतसंकेतं वैदिकं स्मार्तं वा यत्पदं वाक्यं वा भवति तन्मंत्र इत्युच्यते (ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्' 'ॐ नमो नारायणाय' 'ॐ नमः शिवाय' ॐ ह्रीं घृणिः सूर्य आदित्यः श्रीं) इत्यादिमंत्रा वेदे मंत्रशास्त्रेषुच प्रसिद्धाः संति

तेषां विधिवद्दीर्घकालपर्यंतं जपेनापि देवानामाराधनं जायते प्रार्थनात्मकाहि किल मंत्रा भवंत्यतो देवता-स्वरूपध्यानपूर्वकं नियमेन बहुकालं मुहुर्मुहुः प्रार्थयतो भक्तस्योपरि देवाः कालेनाभीष्टवरप्रदानादिनानुकंपां कुर्वंति तथोक्तं योगशास्त्रे स्वाध्यायादिष्टदेवतासं-प्रयोग इति ॥ ५१ ॥

इसप्रकार दो सूत्रोंसें तप शब्दका निरूपण करके अब मंत्रपदका वर्णन करते हैं । मंत्रस्तन्नामांकितं पदम् ॥ देवताके नाम करके युक्त और शब्दक्रमकी योजनासे संकेत किया हूया वैदिक अथवा स्मार्त जो पद या वाक्य है सो मंत्र कहिये है । जैसे कि (ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ तत्स-वितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्) (ॐ नमो नारायणाय- ॐ नमः शिवाय ॐ ह्रीं घृणिः सूर्यआदित्यः श्रीं) इत्यादि मंत्र वेद तथा मंत्रशास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं तिनके दीर्घकालपर्यंत जप करनेसे भी देवता-योंका आराधन होवे है क्योंकि सबमंत्र प्रार्थनारूप होते हैं सो देवतास्वरूपके ध्यानपूर्वक नियमसे बहुतकालपर्यंत वारंवार प्रार्थना करते हूये उपासकके ऊपर कालपायकर देवता प्रसन्न हूये वरप्रदानादिकरके तिसपर कृपा करतेहैं

तथा योगशास्त्रमेंभी लिखा है कि (मंत्रके जप करनेसे इष्टदेवताका मिलाप होवे है इति) ॥ ५१ ॥

अचेतनाहि किल मंत्रवर्णाः कथं मुहुरावर्त्तितास्ते सिद्धिहेतवो जायंते

चेतनाश्रयत्वात् ॥ ५२ ॥

नाम्नः स्वतो जडत्वेपि तस्य वाच्यस्य नामिनो जडत्वं नास्ति सर्वेपि मंत्रगताः शिवविष्ण्वाद्यः शब्दाश्चेतनदेवतावाचकाएव संति यथा नामोच्चारणेन नामिनश्चेतनस्य पुरुषस्य तत्र सांनिध्यं भवत्येवं मंत्रोच्चारणेनापि तद्गतनाम्नो देवस्य तत्र सांनिध्यं जायते तथोक्तं याज्ञवल्क्येन 'अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः। तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदती'ति मंत्राणां पुनः पुनरुच्चारणं तु प्रीत्यतिशयद्योतनार्थं देवताभिमुखीकरणार्थंचेति विज्ञेयं तस्माद्यज्ञतपोभ्यामिव मंत्रानुष्ठानेनापि मनुष्यैर्देवताराधनमवश्यं विधेयमिति तदेवं यज्ञस्तपोमंत्रश्चेति साधनत्रयमेव देवाराधने प्रधानमुक्तं तेष्वेकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा समुच्चितैर्देवताराधनं यथाशक्ति यथाधिकारं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

शंका । मंत्र तो सब अचेतन हैं सो वारवारजपनेसे कैसे सिद्धिके हेतु होसकते हैं समाधान, चेतनाश्रयत्वात्॥ यद्यपि नाम स्वतः जड पदार्थ है तथापि नामका वाच्य जो नामी पदार्थ है सो जड नहि होवे है मंत्रोंमें रहेहूये शिव विष्णु आदि सबी शब्द चेतन देवतायोंके वाचक नाम होवे हैं सो जैसे नामके उच्चारणसे नामी चेतनपु-रुषकी तहां समीपता होवे है तैसेहि मंत्रके उच्चारणसेभी मंत्रगत नामवाले देवताकी समीपता होवे है तथा याज्ञ-वल्क्यमुनिकाभी वचन है (अदृश्य शरीरवाला और प्रेमभावसे ग्रहण करनेयोग्य जो ईश्वर देव है तिसका नाम ओंकार है और सो ईश्वर तिस ओंकारके जप कर-नेसे आवाहन कियाहूया प्रसन्न होता है इति) मंत्रोंका जो जपकालमें वारंवार उच्चारण करना है सो तो प्रीति-की अधिकता जनानेके लिये और देवताके अभिमुख करनेके लिये जानना चहिये यातें यज्ञतपकी न्यांई मंत्रोंके अनुष्ठानसभी मनुष्योंको देवतायोंका आराधन अवश्य करना चहिये इसप्रकार यज्ञ तप और मंत्रानुष्ठान यह तीनहि देवताराधनके मुख्य साधन हैं तिनमें एक या दो या तीनोंकरके यथाशक्ति अपने अधिकारके अनुसार देवतायोंका आराधन करना योग्य है इति ॥ ५२ ॥

तत्र यज्ञेषु प्रायो देवानामग्निद्वारैवावाहनार्चनादिकं क्रियते परंतु तपसि मंत्रानुष्ठानेच केनद्वारा देवानामावाहनादिकं कार्यं

प्रतिमायामाधारभूतत्वात् ॥ ५३ ॥

ब्रह्मणः शिवस्य विष्णोरादित्यस्य दुर्गाया वा यस्या देवताया उद्देशेन तपोमंत्रानुष्ठानं वा कार्यं स्यात् तस्याः शास्त्रोक्तक्रमनिर्मितायां चित्रशिलाधात्वादि प्रतिमायामेवावाहनार्चनस्तवनादिकं विधेयं देवानामाराधने प्रतिमैव किलाधारभूता भवति नहि किमप्यधिकरणमंतरा देवतायाः पूजनादिकं कर्त्तुं सुकरं भवति प्रतिमाद्वारैव हि च स्वेष्टदेवतायाः स्वरूपज्ञानं संजायते ततो देवताराधनमभिलषता पुरुषेण प्रतिमायामेव तस्याः पूजनं कर्त्तव्यम् ॥ ५३ ॥

प्रश्न, यज्ञोंमें देवतायोंका आवाहन प्रायः अग्निद्वारा किया जावे है परंतु तपमें और मंत्रोंके अनुष्ठानमें देवतायोंका आवाहन पूजन किसद्वारा करना चहिये। उत्तर, प्रतिमायामाधारभूतत्वात् ॥ ब्रह्मा शिव विष्णु सूर्य दुर्गा आदि जिस देवताके निमित्तसे तप अथवा मंत्रका अनुष्ठान कियाजावे तिसकी शास्त्रोक्तविधिसे निर्माण करी-

हुई चित्ररूप या पत्थरकी वा धातुमयी प्रतिमामेंहि आवाहन अर्चन स्तवनादिक करना चहिये सो देवतायोंके आराधनमें विशेषकरके प्रतिमाहि आधारभूत होवे है क्योंकि किसी आश्रयके विना देवताका पूजनादिक ठीक नहि होसके है तथा प्रतिमाद्वाराहि अपने इष्ट देवके स्वरूपका ज्ञान ठीक होवे है यातें देवताराधनकी इच्छा वाले पुरुषको प्रतिमामेंहि तिसका पूजन करना योग्य है इति ॥ ५३ ॥

कुत एवं कार्यं

प्रतिनिधित्वेनानक्षे सर्वत्र ॥ ५४ ॥

सर्वत्र वैदिकलौकिककार्येष्वयं नियमो दृश्यते यत्र प्रधानपुरुषस्य संनिध्यभावो भवति तत्र तत्प्रतिनिधित्वेनान्यस्य कस्यचित्स्थापनं क्रियते 'आदित्यो वै यूप' इत्यादित्यादीनां प्रतिनिधित्वेनैव यज्ञे यूपादयः पूज्यंते यथाग्निः सर्वदेवप्रतिनिधित्वेन यज्ञे पूज्यते यथा चोंकारस्येश्वरप्रतिनिधित्वेन जपादिकं क्रियते तद्वदेव देवताराधने तत्प्रतिनिधित्वेन प्रतिमायाः पूजनं कर्त्तव्यम् ॥ ५४ ॥

प्रश्न । प्रतिमामें देवताका पूजन क्यों करना चहिये ।

उत्तर । प्रतिनिधित्वेनानक्षे सर्वत्र ॥ वैदिक तथा लौकिक कार्योंमे सर्वत्र यह नियम है कि जहां मुख्य पुरुषकी समीपता नहि होवे है तहां तिसके प्रतिनिधिभावसे दूसरे किसीका स्थापन कियाजावे है (स्तंभ सूर्यरूप है) इत्यादि वेदवाक्योंसे यज्ञमे स्तंभादिक सूर्यादिकोंके प्रतिनिधिरूपसे पूजे जाते हैं जैसे अग्निकी सर्व देवतायोंके प्रतिनिधिपणेसे यज्ञमे पूजा होवे है तथा ॐकारका ईश्वरके प्रतिनिधि भावसे जपादि किया जावे है तिसीप्रकार देवताके आराधनमें तिसकी प्रतिनिधिरूप प्रतिमाका पूजन करना योग्य है इति ॥ ५४ ॥

नाग्रहो भावनार्थत्वात् ॥ ५५ ॥

प्रतिमाद्वारा देवतार्चनप्रसंगे । इयं प्रतिमैव देवतास्तीत्येवं प्रतिमायामाग्रहो न विधेयः। नहि किल चित्राश्मधातुमयी देवता भवितुमर्हति दिव्यचेतनस्वरूपत्वाद्देवतानां किमर्थं तर्हि प्रतिमायामेव देवतार्चनमुक्तं भावनार्थत्वात् प्रतिमायां देवताया भावना कर्त्तव्या तत्रावाहनेनार्चनेन ध्यानेन च देवतायाः सांनिध्यं संजायते नतु सर्वकालं प्रतिमासु देवतानां निवासो विद्यते दृढभावनया समाहूतास्तु तास्तत्र यज्ञ इव सू-

क्ष्मरूपेणागत्योपासकस्य पूजां गृह्णंति फलं च यथोक्तं प्रयच्छंतीति बोद्धव्यम् ॥ ५५ ॥

नाग्रहो भावनार्थत्वात् ॥ प्रतिमाद्वारा देवतार्चनके प्रसंगमे यह प्रतिमाहि देवता है ऐसा प्रतिमामें हठ नहि करलेना चहिये क्योंकि देवताका स्वरूप चित्र पत्थर या धातुरूप नहि होसकता है देवता तो दिव्य शरीरवाले चेतन होते हैं तो फिर प्रतिमामेंहि देवतायोंका पूजन क्यों कथन किया है ऐसी शंका होनेसे समाधान कहते हैं (भावनार्थत्वात्) अर्थात् प्रतिमा देवताकी भावना करनेके लिये है सो प्रतिमामे देवताकी भावना करनी चहिये तिसमे आवाहन पूजन और ध्यान करनेसे देवताकी समीपता होवे है सर्वदा काल प्रतिमायोंमें देवतायोंका निवास नहि रहता है किंतु जैसे यज्ञमे आवाहन करनेसे देवतायोंका आगमन होवे है तैसेहि दृढभावनासे आवाहन कियेहूये सों देवता सूक्ष्मरूपसे प्रतिमामें आयकर उपासक पुरुषकी पूजाको ग्रहण करते हैं और शास्त्रोक्त फलको देते हैं ऐसा समझना चहिये इति ॥५५॥

तदेवं देवताराधनप्रकारमभिधायेदानीं तस्य फलं निरूपयति

कामावाप्तिस्तत्प्रसादात् ॥ ५६ ॥

यथाविधि दीर्घकालानुष्ठितेन यज्ञेन तपसा मंत्रानुष्ठानेन वा देवाः स्वसेवकोपरि प्रसन्नतामुपायांति ततस्तत्प्रसादेन तस्याशेषमनोगतकामनानां प्राप्तिर्जायते यथा राज्ञः प्रसादेन दरिद्राणां सर्वसंपदः सुलभा भवंति तथैव देवानामनुग्रहेण मनुष्याणां निखिलमनोरथाः सिद्ध्यंति तथोक्तं शतपथब्राह्मणे 'त एनं तृप्तास्तर्पयंति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वात्मना सर्वाभिः पुण्याभिः संपद्भिरिति' ॥ ५६ ॥

इसप्रकार देवताराधनका प्रकार कथन करके अब तिसके फलका निरूपण करते हैं (कामावाप्तिस्तत्प्रसादात्) विधिपूर्वक दीर्घकालपर्यंत यज्ञ तप वा मंत्रानुष्ठान करनेसे अपने भक्तपर देवतायोंकी प्रसन्नता होवे है तिनकी प्रसन्नतासे तिसको मनोकामनायोंकी प्राप्ति होवे है जैसे राजाकी प्रसन्नतासे दरिद्र पुरुषोंको सर्व पदार्थ सुलभ होजाते हैं तैसेहि देवतायोंकी अनुग्रहसे मनुष्योंके सर्व मनोरथ सिद्ध होते हैं तथा शतपथब्राह्मणमेभी लिखा है (सो देवता यज्ञादिकोंसे प्रसन्न हूये यजमानको योग क्षेम बल वीर्य और सर्व शुभ संपदोंकरके सर्वप्रकारसे तृप्त करते हैं इति ॥ ५६ ॥

न केवलं कामावासिरेवापितु

उभयार्थत्वमुपयोगभेदात् ॥ ५७ ॥

द्विविधं हि किल देवाराधनस्य फलं सांसारिकवि-
षयसुखप्राप्तिर्मोक्षपदाधिगमश्च तत्रोपयोगभेद एव
कारणं यद्युपासकेन केवलं विषयसुखमेवाभिलषितं
भवति तदासौ तदेव प्राप्नोति यदि तु स विषयसुख-
विरक्तः केवलं मोक्षपदमेवाभिवांच्छति तदा तदेवा-
धिगच्छति तथोभयार्थित्वे तूभयमेवाश्नुते प्रसिद्धं हि
पुराणेतिहासेषु शिवप्रसादाद्रावणो राज्यमेवावास-
वान् ध्रुवस्तु विष्णुप्रसादाद्राज्यं मोक्षं चोभयं लेभे स-
माधिर्नाम वैश्यश्च दुर्गाप्रसादान्मोक्षमेवाधिजगामेत्ये-
वमुपयोगभेदाद्देवाराधनेन सर्वमुपलभ्यते सत्यसंक-
ल्पाः सत्यवचसो हि किल देवा भवंति ते यस्मै यद्व-
रादिकं प्रयच्छंति तत्तस्य तथैव संपद्यते तस्मादात्मो-
न्नत्यभिलाषिभिर्मनुष्यैरुक्तक्रमेण देवानामाराधनम-
वश्यं विधेयमिति ॥ ५७ ॥

देवतायोंकी प्रसन्नतासे केवल लौकिक कामनायोंकीहि
प्राप्ति नही होवे है किंतु मोक्षकी प्राप्तिभी होवे है (उभ-

यार्थत्वमुपयोगभेदात्) ॥ देवताराधनका दोप्रकारका फल होवे है एकतो सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति और दूसरा मोक्षपदकी प्राप्ति होवे है तहां केवल उपयोगका भेदहि कारण है जो उपासक केवल विषयसुखकी इच्छासे देवतायोंका आराधन करता है तिसको विषयोंकीहि प्राप्ति होवे है और जो उपासक विषयसुखसे विरक्त हूया केवल मोक्षपदकी इच्छा करता है तो सो मुक्तिको प्राप्त होवे है तथा जो उपासक भोग और मोक्ष दोनों चाहता है तो सो दोनोंको प्राप्त होवे है जैसाकि पुराण इतिहासादिकोंमें लिखा है कि शिवकी प्रसन्नतासे रावणको राज्यकी प्राप्ति होतीभई है और विष्णुकी प्रसन्नतासे ध्रुवको राज्य और मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति होतीभई है तथा दुर्गाकी कृपासे समाधि नाम वैश्यको केवल मोक्षकी प्राप्ति होती भई है इसप्रकार उपयोगके भेदसे देवतायोंके आराधनसे सर्व पदार्थोंकी प्राप्ति होवे है क्योंकि देवता सत्यसंकल्प और अमोघ वाक्य होते हैं सो जिस पुरुषको जो कुछ वरदानादिक देते हैं सो उसको वैसेहि होजावे है यातें अपनी उन्नतिकेलिये मनुष्योंको उक्तरीतिसे देवतायोंका आराधन अवश्य करना योग्य है इति ॥ ५७॥

एतेन पित्र्यर्चनं व्याख्यातम् ॥ ५८ ॥

एतेन देवार्चनविधानेनैव पित्र्यर्चनमपि निरूपितं विज्ञेयं देवजातिविशेषत्वात्पितॄणां देवतुल्यत्वात् देववत्तेषामप्याराधनं मनुष्यैः कर्त्तव्यम् ॥ ५८ ॥

एतेन पित्र्यर्चनं व्याख्यातम् ॥ इस उक्त देवतायोंके आराधनके विधानसेहि पितरोंके आराधनका विधानभी निरूपण किया जानलेना क्योंकि पितरभी देवजातिकाहि भेद होनेसे देवतायोंके तुल्यहि हैं यातें तिनका पूजनभी देवतायोंकी न्यांई करना योग्य है इति ॥५८॥

के ते पितरः

पितरो वृद्धदेवाः ॥ ५९ ॥

'ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः' इति मनुवचनानुसारेण देवानां मनुष्याणां च ये वंशकर्त्तारो वृद्धदेवाः संति तएव पितर इत्युच्यंते ते हि स्वर्गादिविषयसुखविरक्ताः शांतचेतसो ध्याननिष्ठा निवृत्तिपथनिरता ज्ञानविज्ञानसंपन्नाः संत्यत एव श्राद्धेषूपनिषदाद्यध्यात्मग्रंथनिर्वाचनं तेषां तुष्टिकरं वदंतीति ॥ ५९ ॥

प्रश्न । सो पितर कौन हैं । उत्तर । पितरो वृद्धदेवाः ॥ (ऋषियोंसे पितर उत्पन्न हूये और पीछे पितरोंसें देवता तथा मनुष्य उत्पन्न हूये) इस मनुस्मृतिके वचनके अनुसार जो देवता और मनुष्योंके वंश प्रवृत्त करनेहारे वृद्ध देवता हैं तिनको पितर कहते हैं । सो पितर लोक स्वर्गादिविषयसुखसे विरक्त शांतचित्त ध्याननिष्ठ निवृत्तिमार्गपरायण और ज्ञानविज्ञानसंपन्न होते हैं इसीलिये श्राद्धमें गीता उपनिषदादि अध्यात्म ग्रंथोंका वांचना पितरोंकी तुष्टिका हेतु धर्मशास्त्रोंमें कथन किया है इति ॥ ५९ ॥

संतु पितरः किमर्थमस्माभिस्ते पूजनीयाः

जनकत्वादर्हत्वम् ॥ ६० ॥

पुरा हि किल प्रजासर्गे महर्षिभिस्तत्सुतैश्च पितृभिरनल्पकालं तपस्तप्त्वा समस्तप्रजोत्पादनं कृतमतो मनुष्यजातेरुत्पत्तिहेतुत्वात्पितृणां मनुष्यैरर्चनं युक्तमेव नोचेत्कृतघ्नतापत्तिरनिवार्या स्यात् यद्यपीदमखिलं मनुष्यादिजगदीश्वरेणैव निर्मितं तथापि पितृणां निमित्तभूतत्वात्साक्षात्तेषामेवोपकारोंगीकरणीयः। तथाचोक्तं शतपथब्राह्मणे 'ऋणं ह वै जायते योस्ति

स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्य' इत्यतः पितृणामृणापाकरणार्थं मनुष्यैरवश्यं श्राद्धकल्पोक्त-रीत्या तेषामभ्यर्चनं करणीयम् ॥ ६० ॥

प्रश्न। पितर लोक भलेहि होवो परंतु हमको तिनका पूजन किसलिये करना चहिये। उत्तर, जनकत्वादर्हत्वम् ॥ प्रथम प्रजासर्गमें महर्षि और तिनके पुत्र पितरोंने बहुत कालपर्यंत तप करके सारी प्रजाको उत्पन्न किया है इस-लिये मनुष्यजातिकी उत्पत्तिके हेतु होनेसे पितरोंका मनुष्योंको पूजन करना युक्त है नहि तो कृतघ्नपणेकी प्राप्ति होवेगी यद्यपि यह देवता मनुष्यादि संपूर्ण जगत् परमेश्वरनेहि उत्पन्न किया है तथापि पितरोंको निमि-त्तभूत होनेसे साक्षात् तिनकाहि उपकार मानना चहिये तथा शतपथब्राह्मणमेंभी लिखा है (यह पुरुष जब पृथि-वीमें जन्म लेता है तो देवतायोंका तथा पितरोंका तथा ऋषियोंका ऋणी हि जन्मता है) यातें पितरोंके ऋणके दूर करनेकेलिये मनुष्योंको श्राद्धविधिसे तिनका पूजन करणा योग्य है इति ॥ ६० ॥

पितृशब्देन स्वपितृपितामहादीनां जीवतामेव ग्र-हणं कार्यमिति केषांचिदाशंकामपाकरोति

जीवतामितिचेन्नानुपपत्तेः ॥ ६१ ॥

जीवतामेवास्मिँल्लोके पितृपितामहादीनां श्रद्धया यदर्चनं तदेव श्राद्धमितिचेत् तन्न युक्तं कुतः अनुपपत्तेः यानि वेदस्मृतिपुराणेषु पितॄणां लक्षणानि श्रूयंते यानि च तत्संबंधीनि तत्र वाक्यांतराण्यभिहितानि संति तानि मनुष्यजातिषु जीवत्पितृषु नोपपद्यंते तथाहि पितॄणां देवताजातिश्चंद्रलोकादूर्ध्वं निवासः पितृयानमार्गो मासपरिमाणं दिनं ज्ञानविज्ञानसंपन्नत्वं तेषां श्राद्धे वेदमंत्रैरावाहनं ब्राह्मणशरीरैः सह वायुवदनुगमनंचेत्याद्यखिलं शास्त्रविहितं मनुष्यजातौ नैव संगच्छते तस्माद्देवताजातिपितॄणामेव श्राद्धे पूजनं भवतीति वेदितव्यम् ॥ ६१ ॥

शंका, पितृशब्दसे अपने जीवते हूये पितापितामहादिकोंका ग्रहण क्यों नहि होसकता । समाधान, जीवतामितिचेन्नानुपपत्तेः ॥ जीतेहूये अपने पितापितामहादिका जो इस लोकमें श्रद्धासे पूजन करना है सोई श्राद्ध कहिये है ऐसी शंका इसजगामे नहि करनी चहिये जीवते हूये पिताआदिका श्राद्ध नहि होसकता है क्योंकि वेद स्मृति तथा पुराणोंमें जो पितरोंके लक्षण सुननेमे

आते हैं और जो शास्त्रोंमें पितरोंके संबंधमे वार्ता लिखी हूई हैं सो मनुष्यजातिवाले जीते पिताआदिमें घटित नहि होसकतीं जैसे कि पितरोंकी शास्त्रोंमें देवता जाति लिखी है और चंद्रलोकसे ऊपर तिनका निवास लिखा है और तिनका महीनाभरका एक दिनरात लिखा है और पितृयान मार्ग लिखा है और ज्ञानविज्ञानसंपन्न शांतचित्त लिखे हैं श्राद्धमें तिनका वेदमंत्रोंसे आवाहन करना और तिनका ब्राह्मणोंके शरीरोंके साथ वायुकी न्यांई आगमन होना लिखा है सो इत्यादि शास्त्रोंमें लिखी हुई सर्व वार्ता मनुष्यजातिके जीवते पिता आदि-कोंमे घटित नहि होसकतीं यातें श्राद्धमें देवता जाति पितरोंकाहि पूजन होवे है जीवतोंका नहि ऐसा जानना चहिये इति ॥ ६१ ॥

स्वपितृपितामहादिबंधूनां मरणानंतरं तन्निमित्तेन तत्पुत्रादिभिर्यदन्नवस्त्रादिकं प्रदीयते तत् तैः स्वकर्म-वशादन्ययोनिमनुप्राप्तैः कथमुपलभ्यते

तदुद्देशेन तद्धामित्वम् ॥ ६२ ॥

नियमोयं किलेश्वरस्य येन पुरुषेण यमुद्दिश्य यत्सु-कृतं कर्म क्रियते तस्य कर्मणः फलं तेनैवोद्देश्यभूतेन जी-

वेन भुज्यते नतु कर्त्रा स्वस्वत्वपरित्यागात् यथा यज्ञेषु ऋत्विजः कर्म कुर्वंति परंतु यजमानस्तस्य फलस्य भोक्ता भवति यथा राज्ञां दानाध्यक्षा दानादिकं प्रयच्छंतोपि न तत्फलभाजो भवंतीत्येवमन्योद्देशेन यत्किंचिदपि शुभं कर्मकुर्वाणोऽयं पुरुषो न तस्य फलेन स्वयमनुयुज्यते किंतु तमेवोद्दिश्यमानं पुरुषं प्रति तत्फलं प्रयातीति ॥ ६२ ॥

शंका, अपने पिता पितामहादिबंधवोंके मरणेके पीछे तिनके निमित्त तिनके पुत्रादिने दियाहूया अन्नवस्त्रादिदान दूसरी योनिको प्राप्त हूये तिनको कैसे पहुंच सकता है। समाधान। तदुद्देशेन तद्गामित्वम् ॥ ईश्वरका यह नियम है कि जो पुरुष जिस जीवके निमित्तसे जो पुण्य कर्म करता है तो तिस कर्मका फल तिस निमित्तभूत जीवकोहि मिले है करनेवालेको नहि मिलता क्योंकि करनेवालेका उसमें स्वत्व नहि रहता जैसे यज्ञमे ऋत्विजलोक कर्म करते हैं परंतु तिसका फल यजमानको होवे है और जैसे राजायोंके दानाध्यक्ष दानादि देते हूयेभी उस दानके फलके भोक्ता नहि होते इसीप्रकार जो शुभ कर्म दूसरे जीवके निमित्तसे यह पुरुष करता है तिसका फल

तिस करनेवालेको नहि मिलता है किंतु तिस निमित्त भूत जीवकोहि तिसका फल जाता है इति ॥ ६२ ॥

कथमन्यकृतस्य कर्मणोन्यः फलभोक्ता जायते

फलदातुरभिज्ञत्वात् ॥ ६३ ॥

सर्वकर्मणां फलदाता परमेश्वरः प्रसिद्धः सर्वज्ञत्वात्तस्यैव हि कर्मफलदातृत्वं संगच्छते नह्यनेकविधजीवजातिकृतानां कर्मणामीश्वरादन्यस्य कस्यचिज्ज्ञानं संभवति ज्ञानाभावे च तत्फलदानमपि न युज्यते तस्मादीश्वर एव कर्मफलदातेति विज्ञेयं तत्रानेनेदं कर्म स्वार्थं परार्थं वा कृतमित्यपीश्वरस्य विदितमेवातः स्वार्थं कृतानां कर्मणां कर्त्तारमेव फलं प्रयाति परार्थं कृतानां परमेवेश्वरः फलं प्रापयति न कर्त्तारं कर्त्तुराशयाभिज्ञत्वादीश्वरस्य कर्मफलविभागाभावे तु स्वार्थं कृतानामपि कर्मणां फले संशयापत्तिः स्यात् ततो यदयं नरो मृतपितृपितामहादीनुद्दिश्य दानादिकं करोति तस्य फलं तैरेवावाप्यते नतु कर्त्रेति बोद्धव्यं तथा च मनुवचनं 'यद्यद्ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः । तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानंतमक्षयमि'ति ॥ ६३ ॥

प्रश्न । एक पुरुषके किये कर्मका दूसरा कैसे फल भोक्ता होसके है । उत्तर । फलदातुरभिज्ञत्वात् ॥ सब कर्मोंका फल देनेवाला ईश्वर है यह वार्ता सर्वत्र शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं और सर्वज्ञ होनेसें ईश्वरमेंहि कर्मोंका फल दातापणा संभवे है क्योंकि अनेक प्रकारके जीवोंके किये हूये कर्मोंका ईश्वरके विना दूसरे किसीको ज्ञान नहि हो सके है और ज्ञानके नहि होनेसे तिनका फल देनाभी नहि संभवे है यातें ईश्वरहि सर्व कर्मोंका फलदाता जानना चहिये तो तहां इस जीवने यह कर्म अपने लिये किया है कि दूसरेके निमित्त किया है सो यह वार्ता ईश्वरको विदित होवे है इसलिये अपने लिये किये हूये कर्मोंका फल ईश्वर करनेवालेकोहि देता है और दूसरेके निमित्त कियेहूये शुभ कर्मोंका फल ईश्वर दूसरेकोहि देता है करनेवालेको नहि देवे है क्योंकि ईश्वर कर्म करनेवालेके अभिप्रायको जानता है और जो ईश्वर कर्मोंके फलका विभाग नहि करता होवे तो अपने लिये किये हूये कर्मोंके फलमें भी संशयकी प्राप्ति होवेगी क्योंकि भूलमें वोभी दूसरे जीवोंको चले जावेंगे यातें जो यह पुरुष मरेहूये अपने पिता पितामहादिकोंके निमित्त दानपुण्य करता है तिसका फल तिनकोहि जावे है करने-

वालेको नहि मिले है तथा मनुस्मृतिमेंभी लिखा है जो जो वस्तु यह मनुष्य अपने पिता पितामह आदिके निमित्त विधिपूर्वक दान करता है सो सो वस्तु परलोकमें तिनको अनंत और अक्षय्य प्राप्त होवे है इति ॥ ६३ ॥

इत्थं पितृपूजनमभिधायेदानीं तत्फलं वर्णयति

वंशवृद्धिस्तदनुग्रहात् ॥ ६४ ॥

देवानां प्रसादेन धनैश्वर्यशरीरारोग्यायुर्वृद्ध्यादीनि सुखानि मनुष्यैरवाप्यंते पितॄणामनुग्रहेण तु पुत्रपौत्रादिपरंपरया वंशस्य वृद्धिर्जायते श्रद्धया पित्रर्चनं कुर्वतां न क्वचिद्वंशविच्छेदो भवत्यत एव श्राद्धकाले पितृभ्यः संतत्यर्थं प्रार्थना क्रियते तथोक्तं यजुर्वेदे (अ. २ मं ३३) 'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रज' मिति मनुस्मृतावपि 'पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा। मध्यमं तु ततः पिंडमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी। आयुष्मंतं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्। धनवंतं प्रजावंतं सात्विकं धार्मिकं तथे'ति तदेवं 'देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्य'मिति वेदवचनानुसारेण देवाराधनमिव पितॄणामप्यर्चनं मनुष्यैरवश्यं विधेयमिति ॥ ६४ ॥

इस प्रकार पितरोंका पूजन कथन करके अव तिसका फल वर्णन करे हैं। वंशवृद्धिस्तदनुग्रहात् ॥ देवतायोंकी प्रसन्नतासें तो मनुष्योंको धन ऐश्वर्य शरीरकी आरोग्यता आयुषकी वृद्धि इत्यादि सुखोंकी प्राप्ति होवे है और पितरोंकी प्रसन्नतासे पुत्रपौत्रादिवंशकी परंपरासे वृद्धि होवे है श्रद्धापूर्वक पितरोंके पूजनमें तत्पर पुरुषोंका कबी वंशविच्छेद नहि होवे है इसिलिये श्राद्धकालमें पितरोंसे संततिकेलिये प्रार्थना कीजाती है जैसे कि यजुर्वेदमे लिखा है (हे पितरो हमारे घरमें पुष्पकी माला पहरणे योग्य कुमारका जन्म करो इति) तथा मनुस्मृतिमेंभी लिखा है (श्राद्धकालमे घरमे जो पतिव्रता धर्मपत्नी पितरोंके पूजनमे तत्पर होवे सो मध्यके पिंडमेंसे थोडा लेकर खाय लेवे तो तिसके प्रभावसे सो वडी उमरावाला यशवाला बुद्धिमान् धनवान् प्रजावान् सात्विक और धार्मिक पुत्रको जनती है इति) तथा (देव और पितरोंके कार्यमें कबी प्रमाद नहि करना चहिये इति) इस तैत्तिरियोपनिषत्के वचनके अनुसार देवतायोंकी न्यांई पितरोंका पूजनभी मनुष्योंको अवश्य करना योग्य है इति ॥ ६४ ॥

एवमाधिदैविकधर्मविषये देवानां पितॄणां चारा-

धनमुक्त्वाधुनेश्वराराधनस्याप्याधिदैविकविषयत्वाद-त्र निरूपणं करोति

नैमित्तिकं देवताराधनम् ॥ ६५ ॥

यदेतद्देवानां पितॄणां चाराधनमुपवर्णितं तन्नैमित्तिकमेव विज्ञेयं यदायदा देशकालसमयानुसारेण स्वमनःकामनानुसारेण च देवानामाराधनं कर्त्तव्यं स्यात् तदा तदैव यज्ञादिभिस्तेषामाराधनं कार्यं पितॄणामपि कृष्णपक्षादिनिर्दिष्टसमयेष्वेवाराधनं कर्त्तव्यं सर्वदा देवपितृकार्यपरायणत्वं न विधेयं यदा यत्र तदाराधननिमित्तमुपस्थितं भवेत् तदा तत्र तेषामाराधनं विधेयं न नित्यमेवेति ॥ ६५ ॥

इसप्रकार आधिदैविक धर्मविषयदेवतायों और पितरोंका आराधन निरूपण करके अब ईश्वरका आराधनभी आधिदैविकधर्मके अंतगत होनेसे यहां वर्णन करे हैं। नैमित्तिकं देवताराधनम् ॥ यह पूर्वोक्तरीतिसे जो देवतायों और पितरोंका आराधन निरूपण किया है सो नैमित्तिक जानना चहिये अर्थात् जब जब देशकालसमयानुसारसे अथवा अपनी मनो कामना प्राप्तिकेलिये देवतायोंके आराधन करनेकी आवश्यकता होव

तव तब यज्ञादि करके तिनका आराधन करना चहिये सर्वदा काल नित्यहि देवता और पितरोंके आराधनमें नहि लगे रहना चहिये जिस कालमें जहां देवताके आ-राधनकी जरूरत होवे तो तिस कालमें तहां तिनका आराधन करना चहिये नित्यहि तत्परायण नहि होना चहिये इति ॥ ६५ ॥

तर्हि नित्यं किमनुष्ठेयं

नित्यंतु परमेशस्य ॥ ६६ ॥

आराधनपदमनुकृष्यते जननमरणजराव्याध्यादि-संसारदुःखेभ्यो जीवात्मनो मुक्त्यर्थं नित्यंतु परमेश्वर-स्याराधनं विधेयं यद्यपि सांसारिककामनासिद्ध्यर्थम-पीश्वरस्याराधनं नायुक्तं परंतु तासामन्यतो देवादे-रपि सुलभत्वमस्ति अतएव वेदेषु विशेषतयेन्द्रादिदे-वानामेव प्रार्थना विद्यते यद्यपि देवेष्वपि कचिन्मुक्ति-प्रदानसामर्थ्यं विद्यते तथापीश्वरस्य मोक्षप्रदत्वं सर्वत्र वेदशास्त्रेषु प्रसिद्धमतो भवबंधविमोक्षार्थं तु परमेश्व-रस्यैव नित्यमाराधनं करणीयम् ॥ ६६ ॥

प्रश्न । तो फिर सर्वदाकाल नित्य किसका आराधन करणा चहिये । उत्तर, नित्यंतु परमेशस्य ॥ यहां आरा-

धनपदका आकर्षण करलेना अर्थात् सांसारिक कामनायोंके लिये तो देवतायोंका आराधन करणा चहिये और जन्ममरण जरा व्याधि संसारके दुःखोंसे जीवात्माकी मुक्तिके लिये सर्वदा काल नित्य परमेश्वरकाहि आराधन करना योग्य है यद्यपि सांसारिक कामनायोंकेलिये भी ईश्वरका आराधन करना अनुचित नहि है परंतु तिन कामनायोंकी तो और देवतायोंसे भी सुलभ प्राप्ति होसके है इसीलिये वेदोंमें विशेषकरके इन्द्रादि देवतायोंकीहि प्रार्थना लिखी हुई है यद्यपि केचित् देवतायोंमें भी मनुष्योंको मुक्ति देनेकी सामर्थ्य है तथापि सर्वत्र वेदशास्त्रोंमें विशेष करके ईश्वरका हि मोक्षदातापणा कथन किया है यातें संसारबंधनकी मुक्तिकेलिये तो परमेश्वरकाहि नित्य आराधन करना योग्य है इति ॥ ६६ ॥

तस्येश्वरस्य किं स्वरूपं

कारणोपाधिचैतन्यमीश्वरः ॥ ६७ ॥

कारणं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः सैवोपाधिः समीपवर्तिनी स्वाभाविकी शक्तिर्यस्य एवंभूतं यद्ब्रह्मणः स्वरूपभूतं चैतन्यं तदीश्वर इत्युच्यते मायाशक्तिसमन्वितं ब्रह्मैवेश्वरशब्दवाच्यं भवतीति विज्ञेयं तथोक्तं

श्वेताश्वतरोपनिषदि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वर'मिति ॥ ६७ ॥

प्रश्न। तिस ईश्वरका क्या स्वरूप है उत्तर। कारणोपाधिचैतन्यमीश्वरः ॥ त्रिगुणात्मक जगत्का कारण प्रकृतिरूप जो मायाशक्ति है तिस स्वाभाविक उपाधिवाला जो ब्रह्मका चैतन्य है सो ईश्वर कहिये है अर्थात् मायाशक्तियुक्त जो ब्रह्म है सो ईश्वर कहिये है तथा श्वेताश्वतरउपनिषत्मेंभी लिखा है (मायाको प्रकृत्ति जानना चहिये और मायायुक्त ब्रह्मको ईश्वर जानना चहिये इति ॥ ६७ ॥

एवमीश्वरस्य स्वरूपमुक्त्वाधुनोपासनोपयोगाय तत्स्वभावं संक्षेपेणाह

स नित्यमुक्तोऽसंगत्वात् ॥ ६८ ॥

स ईश्वरो नित्यमेव मुक्तस्वरूपः। नहि तस्य जीवस्येव संसारबंधनं विद्यते बाह्यविषयेष्वासक्तिरेव बंधनस्य कारणं सा नेश्वरस्य विद्यते ततः प्रपंचरचनादिकार्येष्वसंगत्वादीश्वरस्य नित्यमुक्तत्वमवसेयम् ॥६८॥

इसप्रकार ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करके अब उपासनाके उपयोगके लिये संक्षेपसे तिसका स्वभाव कथन करे

हैं । स नित्यमुक्तोऽसंगत्वात् ॥ सो ईश्वर सदा नित्यहि मुक्तस्वरूप है जीवोंकी न्यांई तिसको संसारका बंधन नहि है क्योंकि बाह्यविषयोंमें आसक्ति होनेसेहि बंधन होवे है सो आसक्ति ईश्वरमें नहि है यातें संसाररचना आदि कार्योंमे असंग होनेसे ईश्वरका नित्य मुक्तपणा जानना चहिये इति ॥ ६८ ॥

अलुप्तज्ञानत्वाच्च ॥ ६९ ॥

अलुप्तज्ञानत्वादपीश्वरस्य नित्यमुक्तत्वं बोद्धव्यं जीवानां हि सततं बहिर्मुखानां बाह्यविषयेष्वेवासक्तानामात्मस्वरूपस्य ज्ञानं लुप्तं भवति परमेश्वरस्य तु नित्यतृप्तत्वात् बाह्यविषयेषु प्रवृत्त्यभावात्स्वरूपंज्ञानं सर्वदा स्फुटं भवत्यतस्तस्य नित्यमुक्तत्वम् ॥ ६९ ॥

अलुप्तज्ञानत्वाच्च ॥ ईश्वरको अपने स्वरूपका ज्ञान कबी लोप नहि होता इससेभी ईश्वरका नित्य मुक्तपणा जानना चहिये और जीवोंका तो सदा बहिर्मुखतासे बाह्यविषयोंमें आसक्ति होनेसे आत्मस्वरूपका ज्ञान लुप्त होजावे है और परमेश्वरको तो नित्य तृप्त होनेसे बाह्यविषयोंमे प्रवृत्ति नहि होनेसे अपणे स्वरूपका ज्ञान सदा स्फुट रहता हैयातें ईश्वर नित्य मुक्तस्वरूप है इति ॥ ६९ ॥

किंच

सर्वज्ञत्वं जगन्निर्माणात् ॥ ७० ॥

नित्यमुक्तत्ववदीश्वरस्य सर्वज्ञत्वमप्यवगंतव्यं जगन्निर्माणकर्तृत्वात्तस्य सर्वज्ञत्वं निश्चीयते योहि यद्वस्तुनिर्मिमीते तद्वश्यं जानन्नेव स निर्मिमीते तस्मादशेषजगद्गतवस्तुजाताभिज्ञत्वादीश्वरस्य सर्वज्ञत्वं सिद्ध्यति तथाच मुंडकोपनिषद्वाक्यं 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप' इति ॥ ७० ॥

सर्वज्ञत्वं जगन्निर्माणात् ॥ तथा नित्य मुक्तकी न्यांई ईश्वरका सर्वज्ञपणाभी जानना चहिये अर्थात् भूत भविष्यत् वर्तमान सर्वकालकी सर्व वार्तायोंका ईश्वरको स्फुट ज्ञान रहता है संपूर्ण विचित्र जगत्की रचना करणेसे ईश्वरका सर्वज्ञपणा निश्चय होवे है क्योंकि जो कोई जिस चीजको बनाता है सो अवश्य उसको पहले जानहि कर बनाता है यातें संपूर्ण जगत्की वस्तुवोंके जाननेहारा होनेसे ईश्वर सर्वज्ञ सिद्ध होवे है तथा मुंडकउपनिषत्मेंभी लिखा है (जो ईश्वर सामान्यरूपसे और विशेषरूपसे सर्वको जानता है और जिसका ज्ञानरूपहि तप है इति ॥ ७० ॥

सर्वशक्तित्वं चास्मात् ॥ ७१ ॥

अस्मात् जगन्निर्माणकर्तृत्वादेवेश्वरस्य सर्वशक्ति-त्वमपि विज्ञेयं नह्यल्पशक्तिकेन केनचिदिदं देवदान-वमानवपशुपक्षिकीटाद्यनंतजीवजातिसंकीर्णं नानावि-धसागरनदीवनपर्वतादिशोभासमन्वितं सूर्यचंद्रग्रह-नक्षत्रादिज्योतिर्गणसमलंकृतं स्वर्गभूपातालादिलोक-रचनया सुव्यवस्थितं जगन्निर्मातुं शक्यते तस्मादी-श्वरस्य सर्वज्ञत्वमिव सर्वशक्तित्वमपि निश्चेयम् ॥७१॥

सर्वशक्तित्वं चास्मात् ॥ इस उक्त जगत् रचना हेतु-सेहि ईश्वरका सर्व शक्तिपणाभी जानना चहिये क्योंकि देवता दैत्य मनुष्य पशु पक्षी कीट आदि अनंत जीवों-करके भराहूया और नानाप्रकारकी सागर नदी वन पर्वत आदि शोभाकरके संयुक्त तथा सूर्य चंद्र ग्रह नक्षत्र आदि ज्योतियोंकरके विभूषित और स्वर्ग पृथिवी पाताल आदि लोकरचना करके सुंदर व्यवस्थायुक्त जो यह संपूर्ण जगत् है तिसको कोई अल्पशक्तिवाला पुरुष नि-र्माण नहि करसकता है यातें सर्वज्ञपणेकी न्यांई ईश्व-रका सर्व शक्तिमान्पणाभी जानना चहिये इति ॥७१॥

ज्ञातमीश्वरस्य स्वरूपं स्वभावश्च किंतु केन प्रकारेण तस्याराधनं कार्यं

तस्याभिधानमोंकारः ॥ ७२ ॥

तस्येश्वरस्योंकारो नामधेयमस्तीति विज्ञेयं तदुक्तं योगशास्त्रे 'तस्य वाचकः प्रणव'इति याज्ञवल्क्यस्मृतावपि 'तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदती' ति ॥ ७२ ॥

प्रश्न । उक्त कथनसे ईश्वरका स्वरूप और स्वभाव जाननेमें आया किंतु अब तिस ईश्वरका आराधन किस प्रकारसे करना चहिये उत्तर । तस्याभिधानमोंकारः ॥ तिस ईश्वरका नाम ओंकार जानना चहिये तथा योगशास्त्रमेंभी लिखा है (तिस ईश्वरका वाचक नाम ओंकार है इति) तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिमेंभी लिखा है तिस ईश्वरका ओंकार नाम है तिसके जप करके बुलायाहूया ईश्वर प्रसन्न होता है इति ॥ ७२ ॥

तज्जपश्चार्थचिंतनम् ॥ ७३ ॥

तस्योंकारस्य विधिवज्जपस्तदर्थस्य चिंतनंच कर्त्तव्यं जपसमये स्वभावतश्चंचलं चित्तं यथा नान्यत्र गच्छेत् तथा प्रणवार्थचिंतने सम्यङ्ग निवेशनीयं प्रणवे किल मात्रात्रयं विद्यते अकारः उकारो मकारश्चेति तत्र ऋग्वेदो भूर्लोको जाग्रदवस्था ब्रह्माचेत्यकारस्यार्थः

यजुर्वेदो भुवर्लोकः स्वप्नावस्था विष्णुश्चेत्युकारार्थः सामवेदः स्वर्लोकः सुषुप्त्यवस्था शिवश्चेति मकारार्थः ध्वन्यात्मकार्द्धमात्रायाश्चाव्यक्तः सर्वगः परमेश्वरोर्थं इत्येवं सर्वं जगदोंकारमात्रासूपनिविष्टमोंकारश्चेश्वरेनु-प्रविष्टस्ततोऽखिलं जगदिदमीश्वरएवोतंच प्रोतं चेत्यतः सर्वत्र चराचरे जगतीश्वरभावना करणीया 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगदि'ति निगमनिर्देशात् ॥ ७३ ॥

तज्जपश्चार्थचिंतनम् ॥ तिस ओंकारका जप और तिसके अर्थका चिंतन करना चहिये जप करने कालमें स्वभावसे चंचल जो चित्त है सो जैसे दूसरी जगा भ्रमण नहि करे इसलिये तिसको ओंकारके अर्थ चिंतन करनेमें भली प्रकारसे लगाना चहिये अब ओंकारका अर्थ कहते हैं ओंकारमें अकार उकार और मकार यह तीन मात्रा हैं अर्थात् इन तीन मात्रासे ओंकार शब्द बनाहूया है तिनमे ऋग्वेद भूर्लोक जाग्रत् अवस्था और ब्रह्मा यह चारों अकारका अर्थ है और यजुर्वेद अंतरिक्षलोक स्वप्न-अवस्था और विष्णु यह चारों उकारका अर्थ है तथा सामवेद स्वर्गलोक सुषुप्ति अवस्था और शिव यह चारों मकारका अर्थ है और ध्वनिरूप जो ओंकारकी चतुर्थ

मात्रा है। तिनका अर्थ अव्यक्त सर्व व्यापक परमेश्वर है इस रीतिसे संपूर्ण जगत् ओंकारकी मात्रायोंमे अंतर्गत है और ओंकार ईश्वरमें अंतर्गत है सो यह संपूर्ण जगत् ईश्वरमें ओतप्रोत है यातें सर्वत्र चराचर जगत्में ईश्वरकी भावना करनी चहिये अर्थात् सर्व जगत्को ईश्वरस्वरूपहि देखना चहिये तथा यजुर्वेदमेंभी लिखा है (जो कुछ जितना पृथिवीमें जगत् है सो सर्व ईश्वर स्वरूपसे चिंतन करना चहिये इति ॥ ७३ ॥

किंच

ज्योतिर्मयत्वेन तद्ध्यानम् ॥ ७४ ॥

प्रणवजपानंतरं स्वहृदयकमले भ्रूवोर्मध्ये शिरसि ब्रह्मरंध्रे वेश्वरस्य ज्योतिःस्वरूपेण ध्यानं कर्त्तव्यं 'तद्देवा ज्योतिषांज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतं दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं यज्ज्योतिरंतरमृतं प्रजास्वि'त्यादि वेदवचनेष्वीश्वरस्य ज्योतिःस्वरूपत्वं प्रसिद्धम् ॥ ७४ ॥

ज्योतिर्मयत्वेन तद्ध्यानम् ॥ ओंकारके जप करनेके पीछे अपने हृदयकमलमें भ्रुमध्यमें अथवा शिरमें ब्रह्मरंध्रमें ईश्वरका ज्योतिःस्वरूपसें ध्यान करना चहिये क्योंकि (सूर्यादि ज्योतियोंकाभी ज्योतिः स्वरूप अजरामरका

देवता ध्यान करते हैं जो ज्योतियोंकाभी ज्योतिः सबसे दूर है और सर्व प्रजाके अंतर्गत अविनाशी है इति) इत्यादि वेदवचनोंमें ईश्वरका स्वरूप ज्योतिर्मयहि कथन किया है इति ॥ ७४ ॥

किमदो ज्योतिरग्निसंनिभं ततो विलक्षणं वा

ज्ञानात्मकत्वान्न भौतिकम् ॥ ७५ ॥

तदीश्वरस्वरूपभूतं ज्योतिरग्न्यादिवद्भौतिकं नास्ति ज्ञानस्वरूपं शुद्धप्रकाशात्मकं हि तज्ज्योतिरवगंतव्यं अतएव न तदनेन चर्मचक्षुषावलोकयितुं शक्यते योगिनां दिव्यदृष्टिविषयंहि किल तज्ज्योतिरस्ति तेनै-वेश्वरज्योतिषाप्यायिताः सूर्यादयो निखिलमिदं प्रपंचं प्रकाशयंति तथाच कठोपनिषद्वचनं 'न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोयमग्निः। तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं वि-भातीति' ॥ ७५ ॥

प्रश्न। क्या यह ज्योतिः अग्निके समान है किंवा विलक्षण है। उत्तर, ज्ञानात्मकत्वान्न भौतिकम् ॥ सो ईश्वरका स्वरूपमय ज्योतिः अग्नि सूर्यादिक ज्योतियोंकी न्यांई भौतिक नहि है किंतु सो ज्योति ज्ञानस्वरूप शुद्ध

प्रकाशरूप जानना चहिये इसीलिये सो इस चर्मके नेत्रोंसें देखनेमें नहि आसकता है किंतु समाधिकालमें योगी लोक दिव्य दृष्टिसे तिसको देख सकते हैं उस ईश्वरके प्रकाशमय ज्योतिसें उत्तेजित हूयेहि सूर्यादिक सर्व जगत्को प्रकाश करते हैं तथा कठ उपनिषत्मेंभी लिखा है (तिस परमात्माके स्वरूपमें सूर्य चंद्रमा तारागण विजलियां और अग्नि यह कोई प्रकाश नहि कर सकते किंतु तिस परमेश्वरके प्रकाशते हूयेके पीछे यह सब प्रकाश करते हैं और तिसहि परमात्माके प्रकाशसे यह सर्व जगत् प्रकाशित होरहा है इति) यातें ज्योतिस्वरूपसे परमात्माका ध्यान करना युक्त है इति ॥ ७५ ॥

तत्प्रार्थना चोभयार्थम् ॥ ७६ ॥

जपध्यानयोरनंतरं नम्रीभूतेन चेतसेश्वरस्य प्रार्थनापि कर्त्तव्या साच सांसारिकसुखप्राप्त्यर्थं भवबंधविमोक्षार्थं चेत्युभयार्थं भवति यथा हे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमन् सर्वांतर्यामिन् सर्वव्यापक सर्वजगदुदयस्थितिलयैकहेतो सर्वजीवनिकायाधिपते परमेश्वर देहि मे नित्यं कलेवरारोग्यं तव कृपया धनं धान्यंच विपुलं मेऽस्तु दारसंततिभृत्यादयश्च संतु मेऽनुकूलाः स्वजा-

तिर्दैन्यं मे मास्तु मम द्विषतश्च तिरस्कुरु दीर्घं चायु-
रस्तु मे सपरिवारस्य सर्वतः शांतिरस्तु तथा हे जग-
दीश विधेयो मयि कृपाकटाक्षः क्षमस्व मे समस्त-
जन्मार्जितान्यसंख्यातदुरितानि भवतु मे धर्मैभिरु-
चिरस्तु मयि सद्विद्यानिवासो जायतां मे नित्यं सतां
समागमश्चित्तंच मे भजतु विषयमृगतृष्णातो वैराग्यं
तव स्वरूपैकचिंतनपरायणत्वंच मेऽस्तु भवतु च मम
हृदये विवेकज्ञानस्याविर्भावः कैवल्यं च मे तवानुकं-
पया निर्विघ्नं जायतां त्वदेकशरणोहमित्येवं भोगाय वा
मोक्षाय वोभयार्थमीश्वरस्य प्रत्यहं प्रार्थना कर्त्तव्येति॥

तत्प्रार्थनाचोभयार्थम् ॥ उक्त रीतिसे जप और ध्यान
करनेके पीछे नम्रचित्तसे ईश्वरकी प्रार्थनाभी करणी
चहिये सो प्रार्थना व्यावहारिक सुखकी प्राप्तिकेलिये
और जन्ममरणरूप संसारबंधनकी मुक्तिकेलिये दोनोंके
निमित्त करणी चहिये तिनमें प्रथम हे सर्वज्ञ हे सर्वश-
क्तिमन् सर्वांतर्यामिन् सर्व व्यापक सर्व जगत्के उत्पत्ति
पालन और नाश करणेहारे सर्व जीवोंके अधिपति पर-
मेश्वर मेरेको सर्वदा शरीरकी आरोग्यता देवो तुमारी
कृपासे मेरे घरमें धन और धान्य पुष्कल होवे स्त्री पुत्र
और नौकरादिक सब लोक मेरे अनुकूल होवें अपनी

जातिमे मैं दीन कबी नहि होवुं मेरे सर्व शत्रुवोंको दूर करो मेरी आयु दीर्घ होवे और सर्व प्रकारसे सब परिवारके सहित मुझको शांति रहे इसप्रकारसे व्यावहारिक प्रार्थना करके फिर पारमार्थिक विषयकी करनी चहिये सो जैसे हे सर्व जगत्के ईश्वर परमेश्वर मेरेपर कृपाकटाक्ष करो मेरे संपूर्ण जन्मोंके असंख्यात पापोंको क्षमा करो मेरी सर्वदा धर्मविषयमें रुचि होवे मेरेको सत्शास्त्रोंका पठन और सत्पुरुषोंका नित्यहि समागम होवे मेरा चित्त विषयरूप मृगतृष्णासें उपराम होवे सर्वदा तुमारे ध्यानमें तत्परता होवे मेरे हृदयमें विवेकज्ञानका आविर्भाव होवे और तुमारी कृपासे मेरेको निर्विघ्न कैवल्य मोक्षकी प्राप्ति होवे मैं आपकी शरण हुं इसरीतिसे भोग अथवा मोक्ष वा दोनोंकेलिये प्रतिदिन ईश्वरकी प्रार्थना करनी चहिये इति ॥ ७६ ॥

यादृशमयं जीवः शुभमशुभंवा कर्म कुरुते तादृशमेवेश्वरस्तस्मै फलं प्रयच्छत्यतः किं प्रार्थनयेति चेत्

श्रवणादर्थवत्त्वम् ॥ ७७ ॥

सर्वत्र किल वेदेषु प्रार्थना श्रूयते यदि प्रार्थनया किमपि नाभविष्यत् तदा किमर्थं वेदेषु तस्या निरूपणमभविष्यत् तथाहि (विश्वानि देवसवितर्दुरिता-

नि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव' 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः स्थिरैरंगैस्तुष्टवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायु' रित्याद्यनेकस्थलेषु वेदेषु प्रार्थना विद्यंते नहि वेदेन निरर्थिकास्ता प्रतिपाद्यंते तस्मादस्तिप्रार्थनायाः फलवत्त्वं किंच प्रार्थनाप्येकविधं कर्मैवास्ति मानसं वाचिकं कायिकंचेति त्रिविधत्वं हि कर्मणां प्रसिद्धं तत्र मनःसहभूतं वाचिकं कर्म प्रार्थनाभवतीति विज्ञेयं ततः कर्मत्वात्प्रार्थनायाः फलवत्त्वमसंदिग्धमेवेति ॥ ७७ ॥

शंका । यह जीव जैसे शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है तैसाहि फल तिसको ईश्वर देता है तो प्रार्थना करनेसे क्या प्रयोजन है । समाधान, श्रवणादर्थवत्त्वम् ॥ वेदोंमें सब जगा प्रार्थना सुननेमें आती है जो प्रार्थना करनेसे कुछ लाभ नहि होता तो वेदोंमें तिसका निरूपण क्यों किया जाता जैसे कि (हे जगत्की उत्पत्ति करनेवाले परमेश्वर तुम हमारे सर्व पापोंको दूर करो और जो हमारे कल्याणकारी वस्तु हो सोहमको देवो इति) हे देवतायो हम कानोंसे अच्छा श्रवणकरें हम नेत्रोंसे अच्छा देखें हम स्थिर अंगोंवाले शरीरोंसे तुष्ट हूये अपनी सर्व आयुको भोगें, इत्यादि अनेक जगा

वेदोमें प्रार्थना लिखीहूई हैं सो वेदमें निरर्थक कथन नहि करीहैं इसलिये प्रार्थनाका अवश्य फल होवेहै किंच प्रार्थनाभी एकप्रकारका कर्महि है क्योंकि मानस वाचक कायिक इसप्रकारसे तीन प्रकारके कर्म कहे जातेहैं तिनमें मनकेसहित वाणीका कर्म प्रार्थना है यातें कर्मरूप होनेसे प्रार्थनाका सफलपणा निश्चितहिहै इति ॥ ७७ ॥

न्यायकारित्वादीश्वरस्य कथं सप्रार्थनामात्रेण पापक्षमणं प्रार्थितवस्तुप्रदानं च करिष्यतीति चेत्

न सर्वथा कर्माधीन्यं लोकवत् ॥ ७८ ॥

यद्यपि साधारणतया जीवकर्मानुरोधेनैवेश्वरः सर्वत्र फलं प्रयच्छतीति सत्यं तथापि तस्य सर्वथा जीवकर्माधीनत्वं नास्ति स्वतंत्रत्वादीश्वरत्वाच्च लोकवदिति दृष्टांतोपादानं लोके यथा राजानः समानतया प्रजासु न्यायेन वर्त्तमाना अपि स्वसमीपवर्तिभृत्यजनेभ्योल्पसेवयापि प्रसन्ना महद्धनं प्रयच्छंतीत्येवमीश्वरोपि नम्रीभूतेन चेतसा प्रार्थयतः स्वभक्तान् प्रति तुष्टस्तेषां पूर्वकृतपापक्षमणपूर्वकं मनोभिलषितं ददाति तथोक्तं श्रीकृष्णेन भगवता गीतायां 'समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः। ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते

तेषु चाप्यहं ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति ७८

शंका । ईश्वरतो न्यायकारी है सो केवल प्रार्थना करनेसे कैसे पापोंको क्षमा करेगा और वांछित पदार्थोंको देवेगा । समाधान । न सर्वथा कर्माधीन्यं लोकवत् ॥ यद्यपि साधारणरीतिसे सर्वत्र जीवोंके कर्मोंके अनुसारहि ईश्वर फल देवेहै तथापि सो सर्वथा जीवोंके कर्मोंके अधीन नहिहै क्योंकि ईश्वर समर्थ और स्वतंत्रहै जैसे इस-लोकमें राजालोक सामान्यरीतिसे प्रजामें न्यायसे वर्तते हूयेभी अपने समीप रहनेहारे नौकरचाकरोंपर थोडीसी सेवा करनेसेभी प्रसन्न होकर बहुत सा धन देदेतेहैं तैसेहि ईश्वरभी नम्रचित्तसे प्रार्थना करनेवाले अपने भक्तोंपर प्रसन्न हूया तिनके पूर्वके सब पापोंको क्षमाकरके मनो कामनायोंको देवेहै तथा भगवद्गीतामें श्रीकृष्णजीनेभी कहाहै (यद्यपि मैं सर्वभूतप्राणियोंमे समानभावसे वर्तताहुं तथापि जो जीव मेरा प्रीतिपूर्वक भजन करतेहैं वो मेरेमें रहतेहैं और मैं उनमें रहताहुं तथा हे अर्जुन तुं मेरी भक्तिसे रहित अन्य सर्वधर्मोंको छोडकर केवल मेरी शर-णमें आव तो मैं तुझको सर्वपापोंसे मुक्त कर देवुंगा इति) ॥ ७८ ॥

अनीश्वरत्वप्रसंगात् ॥ ७९ ॥

यदीश्वरेण जीवकर्मानुरोधं विना स्वतः किमपि कदाचिदनुग्रहादिकं कर्त्तुं न शक्यते तदा तस्येश्वरत्वमेवापगच्छेत् पराधीनत्वात् नहि सर्वथा नियमबद्धस्येश्वरत्वं संभवति तस्मादीश्वरस्य समानतया न्यायकारित्वेपि क्वचित्स्वभक्तेषु विशेषानुग्रहकारित्वं युक्तमेवेति ॥ ७९ ॥

अनीश्वरत्वप्रसंगात् ॥ जो जीवोंके कर्मोंके विना ईश्वर कुछभी कवी अनुग्रहादिक नहि करसकताहै तो फिर उसका ईश्वरपणाहि नहि वन सकेगा क्योंकि जीवोंके कर्मोंके पराधीनहोनेसे नियममें वंधेहूये पुरुपको ईश्वरपणा कैसे होसकताहै यातें सामान्यरीतिसे ईश्वरको न्यायकारी होनेपरभी अपने भक्तोंपर विशेप अनुग्रह आदिकरना युक्तहिहै इति ॥ ८० ॥

प्रत्यक्षानुभवाच्च ॥ ८० ॥

प्रत्यक्षमेव जीवकर्मनिरपेक्षमीश्वरस्यानुग्रहशीलत्वमनुभूयते लोके तद्यथा भूमिजलवायुवह्निनभःसूर्यचंद्रसागरनदीवनपर्वतान्नौषधिरसादिसामग्री जीवानां सुखायेश्वरेण स्वतो निर्मितास्ति न तत्र जीव-

कर्मानुसारित्वं विद्यते कस्य जीवस्य कर्मणेश्वरेणेयं भूमिरादित्यो वा निर्मित इति वक्तुमशक्यत्वात् समष्टिकर्मपक्षेपि जीवकर्मणामनेकविधत्वान्नैकविधकार्यनिष्पादकत्वं संगच्छते भूम्यादित्यादिनिर्माणात्पूर्वं कर्मानुष्ठानानुपपत्तेश्च जगतोऽनादित्वेपि जीवशरीरेभ्यो भूम्यादीनां पूर्वपूर्वत्वमेव निश्चितं तस्मादीश्वरेण स्वतएवैते सूर्यादयोनिर्मिताः संत्यतस्तस्य दयालुत्वं प्रसिद्धमेवेति ॥ ८० ॥

प्रत्यक्षानुभवाच्च ॥ और जगत्में जीवोंके कर्मोंकी अपेक्षा विना ईश्वरका दयालुपणा प्रत्यक्ष देखनेमेंभी आवेहै जैसेकि पृथिवी जल वायु अग्नि आकाश सूर्य चंद्रमा समुद्र नदी वन पर्वत अन्न औषधियां रस इत्यादि सामग्री जीवोंके सुखकेलिये ईश्वरने अपनी तरफसे रची हूईहै क्योंकि किस जीवके कर्मसे ईश्वरने यह पृथिवी अथवा सूर्य बनायाहै इसका जवाव नहि होकताहै जो कहो कि सव जीवोंके मिलेहूये कर्मोंसे यह बनायेहैं तो जीवोंके परस्पर नानाप्रकारके विलक्षण कर्मोंसे एकप्रकारकी वस्तु नहि वनसकतीहै जैसे रंगविरंगे तंतुवोंसे एकरूपका कपडा नहि वन सकताहै तथा पृथिवी सूर्य आदिकोंकी रचनासे पहले जीवोंका कर्म करनाभी नहि वन

सकताहै क्योंकि निराधार अंधकारमें कर्म कैसे होसकते हैं जगत्को अनादि माननेपरभी जीवोंके शरीरोंसे पृथिवी सूर्यादिकोंका प्रथम प्रथम हि होना सिद्ध होवेहै इसलिये ईश्वरने अपनी तरफसे हि यह पृथिवी सूर्यादिक रचेहैं जीवोंके कर्मोंके अनुसार नहि रचेहैं यह जानना चहिये यातें उसका दयालुपणा प्रत्यक्षहि है इति ॥ ८० ॥

इत्थमव्यक्तस्येश्वरस्याराधनप्रकारं निरूपयित्वाथेदानीं 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तंचैवामूर्त्तंच' उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्चेत्यादिबृहदारण्यकशतपथश्रुतिवचनानुसारेण तस्य व्यक्तस्वरूपस्याप्याराधनं वर्णयति ।

विष्णवादिरूपेण वा ॥ ८१ ॥

वेत्यत्र समुच्चयार्थो नतु विकल्पार्थः आराधनपदं चात्रानुवर्त्तनीयं स्थूलबुद्धिभिः सांसारिकजनैरव्यक्तस्येश्वरस्वरूपस्य ध्यानचिंतनादेर्दुष्करत्वात् प्रथमतस्तावद्विष्णुशिवादिदेवतारूपेणैवेश्वरस्याराधनं विधेयं व्यक्तस्वरूपस्य ध्यानचिंतनार्चनादेः सुकरत्वादिति ॥ ८१ ॥

(ब्रह्मके दो रूपहैं एक मूर्तिमान् और दूसरा अमूर्त

है, यह दोनों रूप ईश्वर है जो कथनमें आता है और जो कथनमें नहि आता है जो परिमाणसे रहित है और जो परिमाणवाला है इति) इत्यादि बृहदारण्यक और शतपथ ब्राह्मणके वचनके अनुसार अब ईश्वरके व्यक्त-स्वरूपकाभी आराधन प्रकार निरूपण करते हैं (विष्णवा-दिरूपेण वा ॥ स्थूलबुद्धिवाले संसारी लोकोंसे अव्यक्त निराकार ईश्वरका ध्यान और चिंतनादि मुशकलसे होसकता है इसलिये पहले विष्णु शिव आदि देवता रूपसेहि ईश्वरका आराधन करणा चहिये क्योंकि साका-रस्वरूपका ध्यान चिंतन पूजन आदि भलीप्रकारसे हो-सकता है इति ॥ ८१ ॥

सर्वगतस्याव्यक्तस्वरूपस्य परमेश्वरस्य कथं परिच्छि-न्नतयाविष्णवादिरूपेणाराधनं विधीयते ।

तच्छक्तिसंबंधात्तद्रूपत्वम् ॥ ८२ ॥

यद्यपि सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्याव्यक्तमेव स्वरूपं विद्यते परंतु तस्य विष्णुशिवादिदेवताव्यक्तिषु वि-शेषतया शक्तिसंबंधो वर्त्तते परमेश्वरशक्तिसंबंधाद्वि-ष्णवादीनामपीश्वरस्वरूपत्वं बोद्धव्यं अतएवतेषां सर्वत्र शास्त्रेषु परमेश्वरस्वरूपत्वेनैव स्तवनादिक विद्यते यद्य-पि पिपीलिकापर्यंतेषु निखिलजीवेष्वपि परंपरयेश्वरस्य

शक्तिसंबंधो वर्त्तते तथापि विष्ण्वादिषु साक्षात्तत्संबंधादीश्वरस्वरूपत्वमवसेयम् ॥ ८२ ॥

शंका । परमेश्वर तो सर्वव्यापक और निराकारस्वरूप है तिसका परिछिन्नपणे से विष्णु आदिरूपसे क्यों आराधन करना चहिये । उत्तर । तच्छक्तिसंबंधात्तद्रूपत्वम् । यद्यपि सर्वव्यापकपरमेश्वरका स्वरूप निराकारहि है परंतु तिसकी शक्तिका विष्णुशिवआदि देवता व्यक्तियोंमें विशेष करके संबंध है सो परमेश्वरकी शक्तिके संबंधसे विष्णुआदि देवतायोंको भी ईश्वर स्वरूप जानना चहिये इसीलिये सर्वत्रशास्त्रोंमें तिनकी परमेश्वरस्वरूपसे हि स्तुति पूजन ध्यानआदि कथन किये हैं यद्यपि पिपीलिकापर्यंत सर्व जीवोंमें भी परंपरासे ईश्वरकी शक्तिका संबंध है परंतु विष्णुआदि देवतायोंमें तिस शक्तिका साक्षात् संबंध होनेसे तिनका ईश्वरस्वरूपपणा निश्चय करना योग्य है इति ॥ ८२ ॥

परमेश्वरस्य हि किल शिवविष्णुशक्तिगणेशादित्यात्मिकाः पंच व्यक्तयः प्रधानाः शास्त्रेषु श्रूयन्ते तास्वेकस्या एवाराधनं कार्यमुत सर्वासामित्यत्र निर्णयं दर्शयति ।

विष्णोर्मुख्यत्वं सत्त्वमयत्वात् ॥ ८३ ॥

विष्णुशिवादिपंचस्वपीश्वरव्यक्तिषु विष्णोरेव मुख्यत्वमवसेयं कुतः सत्त्वमयत्वात् सत्त्वगुणप्रधानाहि विष्णोर्व्यक्तिः प्रसिद्धा यथा सत्त्वरजस्तमःसु त्रिषु गुणेषु सत्त्वस्य प्राधान्यमस्ति तथैव रजस्तमःप्रधानासु ब्रह्मशिवादिव्यक्तिषु सत्त्वप्रधानाया विष्णोर्व्यक्तेरेव प्राधान्यमस्तीत्यवबोद्धव्यं सत्त्वगुणप्रधानत्वादेवच विष्णुव्यक्तावीश्वरस्य सर्वोत्कृष्टशक्तिसंबंधो ज्ञातव्यः। तस्माद्विष्णोरेव मुख्यतयाराधनं कर्त्तव्यम् ॥८३॥

प्रश्न। ईश्वरकी विष्णु शिव शक्ति सूर्य गणेश यह पांच व्यक्तियां मुख्य शास्त्रोमें सुननेमें आती हैं तो तिनमेंसे एक व्यक्तिका आराधन करना चहिये कि सबकाहि करना चहिये। उत्तर। विष्णोर्मुख्यत्वं सत्त्वमयत्वात् ॥ विष्णु शिव शक्ति आदि पांचों व्यक्तियोंमें विष्णुकोहि मुख्य समझना चहिये क्योंकि विष्णुकी व्यक्ति सत्वगुणप्रधान सर्वत्र शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। सो जैसे सत्व रज तम इन तीनों गुणोंमें सत्वगुणकी प्रधानता है तैसेहि रजतम प्रधान ब्रह्मा शिव आदि व्यक्तियोंमें सत्वप्रधान विष्णु व्यक्तिकी मुख्यता है और सत्वगुणप्रधान होनेसेहि विष्णु व्यक्तिमें ईश्वरकी शक्तिका सबसे अधिक संबंध

जानना चहिये यातें तिन सर्वमेंसे विष्णुस्वरूपकाहि मुख्यता करके आराधन करना चहिये इति ॥ ८३ ॥

केन प्रकारेण विष्णोराराधनं कार्यमिति जिज्ञासायां तत्प्रकारं दर्शयति

बहिरंतर्वाग्भिस्तदर्चनम् ॥ ८४ ॥

बहिष्टादंतरतो वाचा चेति प्रकारत्रयेण किल विष्णोराराधनं भवति तत्र शास्त्रोक्तक्रमेण निर्मितायां रजतसुवर्णादिधातुमय्यां चित्रात्मिकायां वा प्रतिमायां विष्णोरावाहनं कृत्वा गंधपुष्पधूपदीपनैवेद्याद्युपचारैर्यन्नित्यं विधिवदर्चनं क्रियते तद्बहिराराधनमित्यभिधीयते तथैकाग्रेण मनसा स्वहृदयप्रदेशेष्टदले कनकाभे विकसितपंकजे रत्नसिंहासनोपरिसमासीनं सर्वालंकारसंयुक्तं सपरिवारं भगवंतं संचिंत्य मानसैरेव गंधपुष्पादिभिरुपचारैर्यद्विष्णोरर्चनं क्रियते तदंतराराधनमित्युच्यते यच्च ॐ नमो नारायणाय ॐ नमो भगवते वासुदेवायेत्यादिमंत्राणां विष्णुसहस्रनामादिस्तोत्राणांच प्रत्यहं सततं वाचोच्चारणं क्रियते तद्वागाराधनमित्यभिधीयते तदेवं तनुवाङ्मनोभिरनिशं श्रद्धाभक्तिसंयुतैरुपासकैर्विष्णोराराधनं कर्त्तव्यमिति॥८४॥

सो किस प्रकारसे विष्णुका आराधन करना चहिये ऐसी जिज्ञासा होनेपर तिसका प्रकार दिखलावे हैं । बहिरंतर्वाग्भिस्तदर्चनम् ॥ बाहिरसे अंदरसे तथा वाणीकरके इसरीतिसे तीन प्रकारसे विष्णुका आराधन होवे है तिनमें शास्त्रोक्तरीतिसे निर्माण करी हुई चांदीसोनेआदि धातुकी अथवा चित्रकी प्रतिमामें विष्णुका आवाहन करके गंध पुष्प धूप दीप नैवेद्य आदि उपचारोंसे विधिपूर्वक जो नित्य विष्णुका पूजन करना है सो बाहिरका आराधन कहाजावे है और अपने हृदयस्थानमें अष्टदल सुवर्णके खिलेहुये कमलमें रतनजडित सिंहासनके ऊपर विराजमानहूये सर्व अलंकारभूषणोंकरके युक्त लक्ष्मी शेष नाग गरुड पार्षद आदि सर्वपरिवारकेसहित भगवान्का मनसे चिंतन करके मनसेहि चंदन पुष्प आदिउपचारोंसे जो विष्णुका पूजन करना है सो अंदरका आराधन कहिये है तथा ॐ नमोनारायणाय ॐ नमोभगवते वासुदेवाय इत्यादि मंत्रोंका तथा विष्णुसहस्रनाम आदि स्तोत्रोंका जो नित्य सर्वदा काल वाणीसे पठन उच्चारण करना है सो वाणीका आराधन कहलाता है इसप्रकारसे शरीर वाणी और मन तीनोंकरके सर्वदा काल श्रद्धा भक्ति-

पूर्वक उपासकपुरुषोंको विष्णुका आराधन करना योग्य है इति ॥ ८४ ॥

न संप्रदायबहुत्वं प्रयोजनाभावात् ॥ ८५ ॥

व्यक्तस्याव्यक्तस्य वेश्वरस्वरूपस्याराधने संप्रदायबहुत्वं न विधेयं सर्वजगतामधीश्वरस्याखिलजीवजाताराधनीयस्य परमेश्वरस्यैकत्वात् तस्याराधनमप्येकेनैव संप्रदायेन युक्तं कुतः प्रयोजनाभावात् नहि बहुभिः पृथक् संप्रदायैः किमप्यधिकं प्रयोजनं सिद्ध्यति यद्येकस्मिन्नेव परमेश्वरस्वरूपे सम्यगाराधिते सर्वकामावाप्तिर्जायेत किमर्थं तदा भिन्नभिन्न संप्रदायप्रवर्त्तनं कार्यं न तेन कश्चिद्विशेषलाभः संजायते प्रत्युत हानिरेवोपजायते संप्रदायबहुत्वे हि लोकानां स्वस्वसंप्रदाये विशेषतयाग्रहो जायते ततः परस्परं निंदास्तुतिप्रसंगेन रागद्वेषयोरुद्भवस्तेन परस्परप्रीतिविघातादैक्यविनाशस्ततः प्रजायाः खंडखंडतया विरलतंतोरिव रज्जोर्देशस्य निर्बलत्वमेवोपजायते निर्बलत्वाच्च पराधीनत्वं तेन च दुःखमयं जीवितमित्येवं परंपरानिष्टकारित्वान्न संप्रदायबहुत्वं समंजसं ये च किलाधुनास्मिन् देशे संप्रदायाः प्रचलिताः संति न ते सम्यगुपयोगिनः

कुतस्तेषु रामकृष्णाद्यवतारचर्चाधिक्येन तन्मूलभूतस्य विष्णोरव्यक्तस्येश्वरस्वरूपस्य चाराधनं लुप्तप्रायं जातं तस्माद्यत्र विष्णोरेव प्रधानत्वेनाराधनं भवेत् तथान्येषां शिवशक्त्यादिदेवानां रामकृष्णाद्यवताराणां च तदंगतयार्चनं भवेत् स संप्रदायः सम्यगुपयोगीति विज्ञेयं तथाच व्यासवचनं (एष निष्कंटकः पंथा यत्र संपूज्यते हरिः । कुपथं तं विजानीयाद्गोविंदरहितागममिति ॥ ८५ ॥

न संप्रदायबहुत्वं प्रयोजनाभावात् । साकार अथवा निराकार ईश्वरके स्वरूपके आराधन करनेमें बहुतसी संप्रदायें नहि करनी चहिये क्योंकि सर्व जगत्का अधिपति सर्वजीवोंके आराधन करनेयोग्य ईश्वर एकहि है सो उसका आराधन भी एकसंप्रदायद्वारा हि करना योग्य है क्योंकि बहुत संप्रदायोंसे कुछ विशेष प्रयोजन सिद्ध नहि होवे है जो परमेश्वरके एक स्वरूपके आराधन करनेसेहि सर्वकामनायोंकी प्राप्ति होजावे तो फिर बहुत संप्रदाय प्रवृत करनेका क्या प्रयोजन है क्योंकि बहुत संप्रदायोंसे कुछ विशेषलाभ नहि होवे है उलटी हानि हि होवे है क्योंकि बहुत संप्रदायोंके होनेसे तिनमें लोकोंका अपनी अपनी संप्रदायमें विशेष हठ होजाता

है और परस्पर निंदास्तुतिप्रसंगसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होवे है और रागद्वेषसे परस्परकी एकताका नाश होनेसे प्रजाके टुकडे टुकडे होनेसे विखरे हूये तंतुवोंवाली रस्सीकीन्यांई देशकी दुर्वलता होजावे है और प्रजाके दुर्वल होनेसें पराधीनता होवे है और पराधीनता होनेसें सवी उमरा दुखरूप होजावे है इसप्रकार परंपरासे महाहानिकारक होनेसें बहुत संप्रदायें प्रवृत्त करनी ठीक नहि है और जो इस समय इस भारतवर्षदेशमें संप्रदायें चलरही हैं सो ठीकठीक उपयोगी नहि हैं क्योंकि उनमें प्रायेण रामकृष्णआदि अवतारोंकी हि चर्चा अधिक होनेसें तिनके मूलभूत विष्णुका तथा निराकार ईश्वरका आराधन लुप्त जैसा होगया है सो जहां विष्णुकाहि मुख्यतासे आराधन होवे और शिव शक्ति आदि अन्य देवतायोंका तथा रामकृष्ण आदि अवतारोंका विष्णुके अंगरूपसे पूजन होवे सो संप्रदाय ठीक उपयोगी जानना चहिये तथा महाभारतमें व्यासजीकाभी वचन है (सोई निष्कंटक मार्ग है है जिसमें विष्णुका पूजन होवे है और जो विष्णुकी पूजासे रहित संप्रदाय है सो कुमार्ग समझना चहिये इति ॥ ८५ ॥

एवमीश्वरस्य व्यक्ताव्यक्तभेदेन द्विविधमाराधनमुक्त्वाधुना तत्फलं वर्णयति ॥

सर्वाभीष्टसिद्धिस्तत्प्रसादात् ॥ ८६ ॥

सर्वगतस्याव्यक्तस्य विष्णुस्वरूपापन्नस्यवा परमेश्वरस्योक्तक्रमेण सम्यक्तयाराधनकरणेन तस्य प्रसन्नता जायते ततस्तत्प्रसादेन साधकस्याशेषमनोभिलषितानां कार्याणामनायासेनैव सिद्धिर्भवति मनुष्याणांहि प्रायः शुभकार्यसाधने बह्वो विघ्नास्तद्विघातकाः प्रादुर्भवंतो दृश्यंते परमेश्वरप्रसादात्तु तेषां सर्वेषां विनाशो भवति ततः साधकस्य जपतपोध्यानादीन्यशेषकार्याण्यचिरेणैव सिद्ध्यंतीति वेदितव्यं तथोक्तं योगशास्त्रे (ततः प्रत्यकूचेतनाधिगमोप्यंतरायाभावश्चेति ॥८६॥

इसप्रकार ईश्वरका साकार निराकारभेदसे दोप्रकारका आराधन निरूपणकरके अब तिसका फल कथन करे हैं (सर्वाभीष्टसिद्धिस्तत्प्रसादात् ॥ सर्वव्यापक निराकारका अथवा विष्णुस्वरूप साकार ईश्वरका उक्तरीतिसे भलीप्रकार विधिपूर्वक आराधन करनेसे तिसकी प्रसन्नता होवे है और ईश्वरकी प्रसन्नतासे उपासक पुरुषोंकी सर्व मनोवांछित कामनायोंकी अनायाससे शीघ्रहि सिद्धि होवे है क्योंकि मनुष्योंके शुभकार्योंमें प्रायः बहुतप्रकारके विघ्न

पडकर कार्यकी सिद्धि नहि होनेदेते सो ईश्वरकी प्रसन्नता होनेसे तिन सर्व विघ्नोंका नाश होजावे है तो फिर उपासक पुरुषके तप जप ध्यान आदिसर्वकार्योंकी शीघ्रहि सिद्धि होवे है तथा योगशास्त्रमें पतंजलिनेभी कहा है (ईश्वरका आराधन करनेसे सर्व विघ्नोंका नाश और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होवे है) इति, ॥ ७६ ॥

किंच

मोक्षाधिगमश्चानंतरम् ॥ ८७ ॥

जपतपोयोगादिकर्मणां दीर्घकालं यथेष्टफलभोगेन परां तृप्तिमुपगतस्य तस्योपासकस्य परवैराग्योदये सतीश्वरकृपया लब्धविवेकज्ञानस्य वर्त्तमानकलेवरपातानंतरं जन्ममरणात्मकसंसारबंधनान्मोक्षो जायते परमेश्वरेणैव हि सर्वमिदं मायाजालमाततं यस्मिन्नेते जंतवः स्वकर्मभिरुपप्रेरिताः परितो भ्रमंति ततस्तस्यैवाराधनेनायं जीवो भवबंधाद्विनिर्मुक्तो निर्विघ्नं कैवल्यपदमधिगच्छति नान्यथा तथाचोक्तं गीतायां श्रीकृष्णेनार्जुनं प्रति 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वत'मित्यतः श्रेयोभिलाषिभिर्जनैरनिशमनन्यचेतसा परमेश्वरस्याराधनं कर्त्तव्यमिति ॥ ८७ ॥

मोक्षाधिगमश्चानंतरम् ॥ तथा जप तप ध्यानादि कर्मोंका दीर्घकालपर्यंत मनोवांछित फल भोगकर परम तृप्तिको प्राप्त भये उपासकपुरुषको अंतमें पर वैराग्यके उदय होनेसे ईश्वरकी कृपासे तत्वज्ञानकी प्राप्तिद्वारा वर्तमान शरीरके पात होनेके पश्चात् जन्ममरणरूप संसार वंधनसे मोक्षकी प्राप्ति होवे है क्योंकि यह सव मायारूपी जाल परमेश्वरकाहि फैलाया हूया है जिस जालमें पडे-हूये सर्व जीव अपने अपने कर्मोंके वशहूये संसार चँक-रमें भ्रमण करते हैं इसलिये तिस ईश्वरकी शरण जाने-सेहि जीव भववंधनसे निर्विघ्न मुक्त होसकता है दूसरे उपायसे नहि होसकता तथा गीतामें श्रीकृष्णजीनेभी कहा है (हे अर्जुन तुं सर्वप्रकारसे तिस ईश्वरकीहि शर-णमें पड तिसकीहि प्रसन्नतासे तूं परम शांतिरूप मोक्ष-धामको प्राप्त होवेगा इति) यातें कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंको निरंतर दृढचित्त होकर ईश्वरका आराधन करना योग्य है इति ॥ ८७ ॥ इत्याधिदैविकधर्मनिरूपणम् ॥

इत्थमाधिदैविकधर्मस्य निरूपणं कृत्वाथेदानीमा-धिभौतिकं वर्णयति

आधिभौतिको जीवहितम् ॥ ८८ ॥

'न हिंस्यात्सर्वाभूतानी'तिवेदवचनानुसारेण मनोवचःशरीरैर्यत्सर्वेषां जंतूनां हिताचरणं तदेवाधिभौतिकोधर्म इत्युच्यते ॥ ८८ ॥

इसप्रकार आधिदैविकधर्मका निरूपण करके अव आधिभौतिकधर्मका वर्णन करते हैं (आधिभौतिको जीवहितम् ॥ (किसी जीवको नहि मारणा चहिये) इस वेदवचनके अनुसार मन वचन शरीर करके सव जीवोंका जो हित अर्थात् भला करना है सो आधिभौतिक धर्म कहिये है इति ॥ ८८ ॥

केन प्रकारेण भूतहितमाचरणीयं

सर्वत्र वंधुबुद्धिरेकजत्वात् ॥ ८९ ॥

प्रथमंतुमनुष्यपशुपक्ष्यादिषु सर्वेषु जीवेषु स्ववंधुत्वं परिभावनीयं सर्वेहि वयं किल परमेश्वरादुत्पन्नाः स एवैकोस्माकं सर्वेषां जनकः पिता पितुरेकस्य संततित्वाद्वयं सर्वेपि परस्परं भ्रातर एवातः सर्वजंतुषु स्ववंधुभावेन वर्त्तनीयम् ॥ ८९ ॥

प्रश्न । किसप्रकारसे भूतप्राणियोंका हित करना चहिये । उत्तर । सर्वत्र वंधुबुद्धिरेकजत्वात् ॥ प्रथमतो मनुष्य पशु पक्षि आदि सर्व जीवोंमें अपने वंधुपणेका

ख्याल करना चहिये क्योंकि हम सब लोक परमेश्वरसे उत्पन्न हूये हैं सो हमारे सबका एकहि पैदा करनेवाला पिता है सो एक पिताकी संतति होनेसें हम सब जीव परस्पर भाई हैं यातें सर्व जीवोंमें मित्रभावसे वर्तना चहिये इति ॥ ८९ ॥

मनुष्यपश्वादिषु प्रत्यक्षमुच्चनीचत्वमवलोक्यते तत्कथमेकत्वेन वर्त्तनीयमिति चेत्

न जातिभेदादन्यत्वं जीवसारूप्यात् ॥ ९० ॥

मनुष्यपशुपक्ष्यादिजातिभेदाज्जीवेषूच्चनीचत्वं नैव मंतव्यं सर्वेहि जीवाः परमेश्वरांशभूतत्वेन चेतनस्वरूपाश्चक्षुरादीन्द्रिययुक्ताश्चैकविधाएव दृश्यंते केवलं शरीरेष्वेव कर्मवशात्तेषामुच्चत्वनीचत्वलघुत्वदीर्घत्वस्थूलत्वसूक्ष्मत्वादयो भेदाः प्रतीयंते 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मे'ति श्रुतिवचनानुसारेणाखिलशरीरेष्वेकविधमेव चैतन्यं निश्चेयम् ९०

प्रश्न। मनुष्य पशु पक्षि आदि जीवोंमें प्रत्यक्षहि उच्च नीचपणा देखनेमें आवे है सो तिनमें कैसे समभावसे वर्तना चहिये। उत्तर, न जातिभेदादन्यत्वं जीवसारूप्यात् ॥

मनुष्य पशु पक्षिआदिकोंमें जन्मके भेदसे उच्च नीचपणा नहि समझना चहिये क्योंकि सर्व जीव परमेश्वरके अंश-भूत होनेसे चेतनस्वरूप और नेत्रादिक इंद्रियोंवाले बराबरहि देखनेमें आते हैं केवल कर्मोंके अनुसार तिनके शरीरोंमें उच्च नीच छोटा वडा मोटा पतला आदि भेद देखनेमें आते हैं जीवात्मायोंमें कुछ भेद नहि है (एकहि देव सर्व प्राणियोंमें गुप्तरूपसे व्यापक और सबका अंतर आत्मारूप है इति) इस वेदवचनके अनुसार सब जीवोंके शरीरोंमें बराबरहि चेतनपणा निश्चय करना चहिये इति ॥ ९० ॥

वृक्षेष्वप्यनुमानात् ॥ ९१ ॥

मनुष्यपशुपक्ष्यादिवत् वृक्षलतागुल्मादिष्वपि जीवोस्तीति वेदितव्यं मूलासेचनेन हरितस्य वृक्षस्य शाखापत्रादिषु जलस्याकर्षणं जायते शुष्कस्यतु तन्न जायते तेन वृक्षलतादिषु जीवस्यानुमानं भवति वृक्षाभ्याशे स्थिता लता वृक्षमेवाधिरोहति नेतस्ततो व्रजति लज्जालुका करेण स्पृष्टा सर्वतः संकोचमायातीत्येवं दर्शनस्पर्शनादिज्ञानमपिवृक्षेष्वनुमीयते महाभारतेपि शांतिपर्वणि 'तस्मात्पश्यंति पादपाः तस्माच्छृण्वंति

पादपाः तस्माज्जिघ्रंति पादपा' इत्यादि वचनैर्वृक्षेषु जीवस्य सद्भावो निरूपितः। वेदेष्वपि वनस्पतीनां संबोधनानि स्तुतयश्च श्रूयंते तस्मादावश्यकप्रयोजनं विना हरितवृक्षाणां छेदनं कदापि न विधेयम् ॥ ९१ ॥

वृक्षेष्वप्यनुमानात् ॥ मनुष्य पशु पक्षि आदिकोंकी न्याईं वृक्ष लता गुल्म आदि सब वनस्पतियोंमेंभी जीव बराबर समझना चहिये क्योंकि हरे वृक्षके मूलमें जल सिंचन करनेसे ऊपर सब डाल पत्ते आदिमें जलका आकर्षण होवे है और सूखे वृक्षमें सिंचन करनेसे जलका आकर्षण नहि होवे है और इसलिये वृक्ष लता आदिमें जीवात्माका अनुमान होवे है और वृक्षके समीपकी लता वृक्षकी तरफहि जाकर ऊपर चढती है दूसरी तरफ नहि जाती तथा लज्जावंती चूटी हाथसे छूनेसे सिकुड जाती है इससे वृक्षोंमें देखना स्पर्श जानना आदिका ज्ञानभी प्रतीत होवे है तथा महाभारतके शांतिपर्वमेंभी लिखा है (वृक्ष देखते हैं वृक्ष सुनते हैं वृक्ष सूंघते हैं इति) इत्यादि वचनोंसे वृक्षोंमें जीवका सद्भाव निरूपण किया है तथा वेदोंमेंभी वनस्पतियोंके संबोधन और स्तुतियों लिखीहूइ हैं यातें वृक्ष लता आदिकोंमें जीव होनेसे कोई आव-

श्यक प्रयोजनके सिवाय हरे वृक्षोंको कवी नहि काटना चहिये इति ॥ ९१ ॥

स्वजातावप्येवं वीजैकत्वात् ॥ ९२ ॥

यथा पशुपक्षिवृक्षादिषु भिन्नजातिषु जीवानामेकविधत्वमस्त्येवं मनुष्यजातावपि सर्वेषामेकरूपत्वमनुसंधेयं मनुष्यजातेर्हि किलैकमेव वीजं विद्यते केवलं देशभेदेन मनुष्याणां वेषभाषावर्णाकृत्यादिषु भेदो दृश्यते नतु शरीरेषु शरीरावयवास्तु सर्वेषां समाना एवावलोक्यंते तस्मात्सर्वत्र सर्वमनुष्येषु वंधुवुद्धिराश्रयणीयां ॥ ९२ ॥

स्वजातावप्येवं वीजैकत्वात् ॥ जैसे पशु पक्षि आदि भिन्न जातियोंमें सब जीवोंका वरावरपणा है तैसेहि मनुष्य जातिमेंभी सर्वको वरावर समझना चहिये क्योंकि मनुष्य जातिमात्रका एकहि वीज है केवल जुदा जुदा देशोंमें रहनेके सववसे मनुष्योंमें भाषण खानपान पहरान आकार आदिमें भेद दीखता है किंतु शरीरोंमें कुछ भेद नहि हैं शरीरोंके अंगतो सव मनुष्योंके वरावरहि देखनेमें आते हैं यातें सर्वत्र सव मनुष्योंमें अपने वंधुपनेसे वर्तना चहिये इति ॥ ९२ ॥

वर्णाभिधानमितिचेत्तद्व्यवस्थार्थम् ॥ ९२ ॥

'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् बाहूराजन्यः कृतः ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत (यजुः अ. ३१ मं ११) इत्यस्मिन् वेदवाक्ये मनुष्याणां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रभेदेन चतुर्विधत्वमभिहितं तत्कथं तेषामेकरूपत्वमनुसंधेयमितिचेदिदमुत्तरं यदिदं वेदे मनुष्यजातेर्वर्णचतुष्टयं श्रूयते तत्तु केवलं कर्मभेदेन व्यवहारव्यवस्थार्थमेव प्रतिपादितमस्ति नतुबीजभेदेन ब्राह्मणक्षत्रियादीनां शरीरे मनागपि विलक्षणत्वाभावात् ब्राह्मणो वेदशास्त्रादिकमधीत्य मुखेन धर्मोपदेशादिना वर्णत्रयस्योपकारंकरोतु क्षत्रियो बाहुबलेन भूमिं निर्जित्य धर्मेण प्रजापालनं करोतु वैश्यो जंघाबलेन परदेशाटनकृष्यादिना द्रव्योपार्जनं कृत्वा यथायोगं तद्विभागेनेतरान् सुखयतु शूद्रश्च पादचारेणेतस्ततोधावनेन वर्णत्रयस्य परिचर्यां करोत्वित्येवं व्यवहारसौकर्यार्थं मनुष्येषु कर्मभेदेन चतुर्विधत्वमुच्चनीचत्वंच निरूपितमित्यतो न तेषां स्वरूपतो वैलक्षण्यमस्तीति बोद्धव्यं यथा श्रुतं मंत्रार्थव्याख्यानं त्वत्र सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादितिवत्पुरुषावयवानां काल्पनिकत्वान्न संगच्छते तथा च महाभारते

शांतिपर्वणि मोक्षधर्मे व्यासवचनं (न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ब्रह्मणा पूर्वसृष्टंहि कर्मभिर्वर्णतां गतम् । कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः त्यक्तस्वधर्मा रक्तांगास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः । गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः स्वधर्मान्नानुतिष्ठंति ते द्विजा वैश्यतां गताः । हिंसानृतप्रियालुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः । कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताइति । भगवद्गीतायामपि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशइति । ब्राह्मणोस्यमुखमासीदित्यत्रापि मुखबाहूरूचरणाद्यवयवयुक्तादेकस्मादेव पुरुषाद्वर्णचतुष्टयस्योत्पत्तिरुक्ता ततो न बीजांतरत्वं भवितुमर्हतीति विज्ञेयम् ॥ ९३ ॥

वर्णाभिधानमिति चेत्तद्व्यवस्थार्थम् ॥ आदिपुरुषके मुखसे ब्राह्मण भुजासे क्षत्रिय जंघासे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न होतेभये इति । इस यजुर्वेदके वचनमें मनुष्योंमें ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र भेदसे चारप्रकारके वर्ण लिखे हैं तो तिनमें एकरूपपणा कैसे समझना चहिये ऐसी शंका होनेसें समाधान कहते हैं जो यह वेदमें मनुष्य जातिके चार वर्ण कथन किये हैं सो तो केवल कर्मोंके भेदसे व्यवहारकी व्यवस्थाकेलिये कथन किये जानने

चहिये वीजके भेदसे नहि कथन किये हैं क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रिय आदिके शरीरोंमें किंचित्मात्रभी विलक्षणपणा देखनेमें नहि आवे है सब मनुष्योंके शरीर हाथ पैर नाडी हड्डी इंद्रिय आदि अवयव सब बराबर देखनेमें आते हैं। उक्त वेदवचनका यह मतलब है कि ब्राह्मण वेदशास्त्रादि विद्या पठन करके मुखसे लोकोंको धर्मकी शिक्षा और उपदेश करे और क्षत्रिय भुजाके बलसे पृथिवीको जीत करके धर्मसे प्रजाका पालन करे और वैश्य जंघाके बलसे इधर उधर देशपरदेश भ्रमण कृषि आदिद्वारा धनको संपादन करके दूसरोंको सुख देवे तथा शूद्र पैरोंसे इधर उधर चल फिरकर तीनों वर्णोंकी सेवा करे इस रीतिसे केवल लोकव्यवहारकी अनुकूलताकेलिये वेदशास्त्रोंमें कर्मोंके अनुसार मनुष्योंमें चार वर्णोंद्वारा ऊंच नीच पणेका निरूपण किया है इसलिये तिनके खास स्वरूपमें कुछ विलक्षणता नहि है इस जगा मंत्रमें लिखेमूजब अर्थ करना ठीक नहि हो सकता है क्योंकि (विराट् पुरुषके हजार शिर हैं हजार नेत्र हैं और हजार चरण हैं) इस वचनकी न्यांई पुरुषके अंगोंको कल्पनारूप होनेसें मुख भुजा आदिसें ब्राह्मण क्षत्रिय आदि की उत्पत्ति नहि हो सकती है तथा महाभारतके

शांतिपर्वके मोक्षधर्ममें व्यासजीनेभी लिखा है (मनुष्य-जातिमें सब वर्णोंमें कुछ न्यूनाधिकता नहि है क्योंकि यह सर्व जगत् एक ब्रह्माकी संतान है सबको पहले ब्रह्मानेहि उत्पन्न किया है केवल पीछे कर्मोंके भेदसे मनुष्योंमे चारवर्ण होगये हैं सो पहले ब्रह्माके पुत्र होनेसे सब ब्राह्मण कहलाते थे तिनमें जो विषयभोगपरायण तीक्ष्ण स्वभाववाले क्रोधी साहसी शांतिधर्मसे रहित हूये सो क्षत्रिय होगये और जो गौवोंकी सेवा खेतीसे अपना निर्वाह करने लगे सो वैश्य होगये तथा जो जीवहिंसा झूठ लोभपरायण हूये नीच कामोंसे वृत्ति करने लगगये सो शूद्र हो गये इति) तथा भगवद्गीतामेंभी लिखा है (गुण और कर्मोंके विभागसे मैंने चार वर्ण उत्पन्न किये हैं इति) इस वचनमेंभी कर्मोंके भेदसेहि चार वर्णोंका भेद लिखा है बीजसे नहि और जो पूर्वोक्त वेदवचनमें ब्राह्मणमुखसे क्षत्रिय भुजासे वैश्य जंघासे शूद्र पैरोंसे उत्पन्न हूये लिखे हैं उसमेंभी मुख भुजा जंघा पैरवाले एकहि आदि पुरुषसे चारों वर्णोंकी उत्पत्ति सिद्ध होवे है इसलिये चारोंका बीज भिन्न नहि होसकता यातें सर्व मनुष्योंमें परस्पर बंधुभावसे वर्तना योग्य है इति ॥९३॥

इतश्चनबीजांतरत्वं

जातिप्रश्नात् ॥ ९४ ॥

सर्वत्र लोकव्यवहारवेलायामयंप्रश्नो भवति कोभवान् किंजातीयः । नहि जंवीरजंवुरसालकदलीनारिकेलादिफलेषु सन्निहितेष्वेवंविधः प्रश्नो लोके दृश्यते तत्तद्बीजभेदात्तत्तत्स्वरूपभेदस्यप्रत्यक्षत्वात् सति बीजभेदेमनुष्येष्वपि प्रत्यक्षं स्वरूपभेदोभवेदेव ततश्चनैवंविधः प्रश्नस्तत्र प्रवर्त्तेत प्रवर्त्तते च ततो निखिलमनुष्यजातेरेकमेव बीजमस्तीत्यवसेयम् ॥ ९४ ॥

इससेभी मनुष्यजातिमें बीजका भेद नहि है (जातिप्रश्नात्) लोकव्यवहारमें सब जगा नवीन पुरुषके आनेपर यह प्रश्न होता है कि तुम कौन हो तुमारी क्या जाति है सो मनुष्योंमे बीजभेद होनेसे यह प्रश्न नहि होना चहिये क्योंकि जैसे निंबु जंबु आम केला नारिकेल आदि फलोंके एकठे होनेपर वहां यह प्रश्न नहि होता कि कौन फल किस बीजका है क्योंकि जुदा जुदा बीजसे उनके आकारभी प्रत्यक्ष जुदा जुदा प्रतीत होते हैं इसीप्रकार जो मनुष्योंमें बीजका भेद होवे तो तिनमेभी प्रत्यक्ष आकारका भेद होना चहिये और आकारके भिन्न होनेपर ऐसा प्रश्न नहि होना चहिये परंतु ऐसा प्रश्न

सबजंगा देखनेमें आता है इसलिये सर्व मनुष्यजातिका एकहि वीज है ऐसा निश्चय करना चहिये इति ॥ ९४ ॥

यद्येवं मनुष्यजातेः स्वरूपतो विलक्षणत्वं नास्ति किमर्थं तर्हि तत्र चतुर्विधत्वं कल्पितं

आवश्यकत्वात् ॥ ९५ ॥

यदिदं मनुष्येषु वर्णचतुष्टयं नियमितं तत्समंजसमेव कुतः आवश्यकत्वात् जगद्व्यवहारनिर्वहणार्थं वर्णचतुष्टयमवश्यमपेक्ष्यते नहिवर्णव्यवस्थाभावे लोकव्यवहारः सम्यक्तया संपद्यते तथाहि क्षत्रियाभावे लोके प्रजानियमनं कः कुर्यात् नियमनाभावे च बलवद्भिर्दुर्बलबाधनेन सर्वत्र विप्लवः स्यात् एवं ब्राह्मणाभावे वेदशास्त्रपठनपाठनयजनयाजनादिक्रियालोपेनजगत्यंधत्वमेव भवेत् तथा वैश्याभावे कृषिव्यापारादिकर्मवैकल्यादितरेषां कथं निर्वाहः स्यात् तद्वत् शूद्राभावेच परिचारकाभावात् धनिनां कुतः सौख्यं प्रजायेत तस्मात्परस्परोपयोगित्वान्मनुष्येषु वर्णचतुष्टयं समंजसमेवातो वर्णव्यवस्था न लोपनीयेति ॥ ९५ ॥

प्रश्न । जो इसरीतिसे मनुष्योंमें स्वरूपसे विलक्षणता नहि है तो फिर ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चारभेद क्यों

बनाये गये । उत्तर, आवश्यकत्वात् ॥ मनुष्योंमें जो यह चार वर्णोंका संकेत ईश्वरने किया है सो यथार्थ है जगत्के व्यवहार चलानेकेलिये चार वर्णोंको आवश्यकता है क्योंकि वर्णव्यवस्थाके विना संसारका व्यवहार ठीक नहि चल सकता है जो क्षत्रिय नहि होवें तो प्रजाका प्रबंध कौन करे और प्रजामें प्रबंध नहि होवे तो बलवानोंके निर्बलोंको दुःख देनेसे सब जगा उपद्रव होजावेगा तैसेहि ब्राह्मणके नहि होनेसे वेदशास्त्रोंका पठन पाठन यज्ञोंका यजन याजन आदि क्रियायोंके लोप होनेसे धर्मविषयक अंधेराहि होजावेगा और वैश्यके नहि होनेसे खेती व्यापार आदि कर्मोंकी विकलतासे दूसरे वर्णोंका कैसे निर्वाह होवेगा तथा शूद्र नहि होवे तो नौकरोंके नहि होनेसे धनी पुरुषोंको कैसे सुख मिले यातें परस्पर उपयोगी होनेसे मनुष्योंमे चार वर्णोंका संकेत ठीकहि है यातें वर्णव्यवस्थाका लोप नहि करना चाहिये इति ॥ ९५ ॥

सर्वत्र तद्दर्शनाच्च ॥ ९६ ॥

येषु देशेषु जनसमुदायेषु वा वर्णव्यवस्था नास्ति तत्रापि वर्णचतुष्टयं तत्तत्कर्मानुसारेण विद्यत एव

तद्यथा ये तेषु राज्यप्रबंधकर्तारस्ते क्षत्रिया ज्ञेया ये व्यापारपरायणास्ते वैश्या ये धर्माचार्यास्ते ब्राह्मणा ये परिचारकास्ते शूद्रा इत्येवं सर्वत्र सर्वदेशेषु वर्णचतुष्टयं प्रत्यक्षमेव दृश्यते नहि तद्भिना क्वचिदपि व्यवहारव्यवस्था समीचीना भवितुमर्हत्यतो मनुष्येषु चातुर्वर्ण्यनियमो युक्त एवेति मंतव्यम् ॥ ९६ ॥

सर्वत्र तद्दर्शनाच्च ॥ जिन देशोंमे या लोकसमाजोंमें वर्णोंकी व्यवस्था नहि है तहांभी तिनके कर्मोंके अनुसार चारों वर्ण देखनेमें आते हैं सो जैसे जो तिनमें राज्यका प्रबंध करनेवाले हैं सो क्षत्रिय जानने चहिये और जो व्यापारमे लगेहूये हैं सो वैश्य समझने चहिये जो धर्मके आचार्य हैं सो ब्राह्मण जानने चहिये तथा जो सेवा करनेवाले नौकर चाकर हैं सो शूद्र जानने चहिये इसप्रकार सर्व देशोंमें प्रत्यक्षहि चारों वर्ण देखनेमें आते हैं तिनके विना कहींभी व्यवहारकी व्यवस्था ठीक नहि हो सकती है यातें मनुष्योंमें चार वर्णोंका नियम होना ठीक है इति ॥ ९६ ॥

बीजैकत्वेपि यदि केवलं व्यवहारव्यवस्थार्थं वर्णचतुष्टयं कल्पितं किमर्थं तर्हि सर्वैरेव परस्परं मिलित्वा भोजनपानासनविवाहादिव्यवहारो न क्रियते

एकत्वेप्यवांतरभेदाद्बीजस्य ॥ १७ ॥

यद्यपि मनुष्यजातेरेकमेव प्रथमतो बीजंभवति परंतु कालेन तत्र देशकालक्रियादिभेदान्मनुष्येषु स्थूलत्वकृशत्वह्रस्वत्वदीर्घत्वश्यामत्वश्वेतत्वमूर्खत्वचतुरत्वादिगुणनिमित्तकमवांतरवैलक्षण्यं जायते तेन प्रायः कृशस्य सुतः कृशएव भवति स्थूलस्य स्थूलो गौरस्य गौरः कृष्णस्य कृष्णो नीचस्य नीचः श्रेष्ठस्य श्रेष्ठ इत्येवं पश्वादिष्वप्येकजातिषु विलक्षणत्वं दृश्यते ततो बीजस्यावांतरवैलक्षण्यान्न सर्वेषां मनुष्याणामेकत्रभोजनादिव्यवहारः संगच्छत इति ॥ १७ ॥

प्रश्न । जो मनुष्यजातिका एकहि बीज है और केवल व्यवहारकी व्यवस्थाके लियेहि तिसमें चार वर्णोंकी व्यवस्था की गई है तो फिर सब लोक मिल करके आपसमें खान पान आसन विवाह आदि व्यवहार क्यों नहि करते। उत्तर, एकत्वेऽप्यवांतरभेदाद्बीजस्य॥ यद्यपि सृष्टिके आदिमें मनुष्यजातिका एकहि बीज होताभया परंतु फिर पीछे देशकालक्रिया आदिके भेद होनेसे मनुष्योंमें मोटापण पतलापण छोटापण लंबापण कालापण धौलापण मूर्खपण चतुरपणा आदि गुणोंके कारणसे

वीजमें अंदरूनी विलक्षणता होगई है इसलिये बहुत करके देखनेमें आवे है कि पतलेका पुत्र पतला मोटेका पुत्र मोटा गोरेका गोरा कालेका काला नीचका नीच श्रेष्ठका श्रेष्ठ होता है इसीतरे पशुवोंमेंभी एक जातिमें अंदरूनी भेद देखनेमें आता है यातें बीजमें अवांतर भेद होनेसें सब मनुष्योंका खानपान आदि व्यवहार एकसाथ नहि होसकता है इति ॥ ९७ ॥

साहश्येतु संग्रहणं न्याय्यत्वात् ॥ ९८ ॥

यद्यप्यवांतरभेदान्मनुष्येषूच्चनीचत्वं जायते परंतु येषां पानभोजनादिचेष्टा परस्परं सदृशी स्यात् येच स्वजात्यंतरिताभवेयुस्तैस्तु परस्परं मिलित्वावर्त्तनीयं तद्यथा सर्वेपि ब्राह्मणा ब्राह्मणजातिमात्रे परस्परमेकत्वेन वर्त्तेरन् क्षत्रियाः क्षत्रियेषु वैश्या वैश्येषु शूद्राः शूद्रेष्वित्येवं पृथग्देशाचारादिविचारं हित्वा स्वजात्यंतरितेष्वेकत्वेन परस्परं वर्त्तनीयं तथा स्वजात्यंतरितत्वाभावेपि स्वसमीपवर्त्यन्यजातिषु वर्त्तमानानामपि नराणां येषामशनपानादिव्यवहारः स्वतुल्यः स्यात्तेषामपि स्वसमाजोत्सवेषु संग्रहणं कर्त्तव्यं स्वसमानव्यवहारेष्वादरो न्यायसंगत एव वयमेव श्रेष्ठा इति

वृथाभिमानेन परेषामनादरणेतु पापभागित्वमेव जायते पूर्वेंहि ब्राह्मणा व्यवहारसाम्यात् क्षत्रियाणां गृहेषु भोजनंकुर्वंतिस्म क्षत्रियाश्च ब्राह्मणगृहेषु स्वकन्याश्च राजानो ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छंतिस्म कैश्चिद्ब्राह्मणैरपि क्षत्रियेभ्यः स्वकन्याः समर्पिता बभूवुर्यथा ययाति-संज्ञकाय नृपाय शुक्राचार्येण स्वकन्या प्रदत्ता शुकेन-चानुह्यायराज्ञेप्रदत्तेत्यादिप्रसिद्धमेव भारतहरिवंशादी-तिहासेषु ततस्तुल्यव्यवहारेषु स्वजातिषु स्वसमीपव-र्त्यन्यजातिषुच सर्वत्र समत्वेन वर्त्तनीयम् ॥ ९८ ॥

साहश्येतु संग्रहणं न्याय्यत्वात् ॥ यद्यपि अंदरूनी भेदसे मनुष्योंमें उच्च नीचपणा होगया है परंतु जिन मनुष्योंकी खान पान आदि चेष्टा आपुसमें बराबर मि-लती जुलती होवे और जो आपुसमें बराबर जातिके होवे तिन सबको तो परस्पर मिल करके वर्तना योग्य है जैसेकि ब्राह्मण लोक सब ब्राह्मण जातिमात्रसे मिल-कर वर्तें क्षत्रियलोक सब क्षत्रिय जातिमात्रसे वर्तें वैश्य सब वैश्योंसे वर्तें और शूद्र सब शूद्रोंसे वर्तें इसमें जुदा जुदा देशके आचारविचारका ख्याल छोडकर अपनी जातिमात्रसे परस्पर खानपान विवाहादि व्यवहार करना चहिये तथा अपनी जातिके नहि होनेपरभी जो अपनी

जातिके नजदीक दूसरी जातिके होवें और जिनका खान पान आदि व्यवहार अपनेसे मिलता हूया होवे तिन-कोभी अपने विवाहादि उत्सवोंमें शामिल करलेना चहिये क्योंकि अपने समान व्यवहारवालोंका आदर करना न्याययुक्त है और हमहि सबसे बडे हैं इसप्रकारका वृथा अभिमान करके दूसरोंके निरादर करनेसे तो पापकाहि भागी होना पडता है और व्यवहारमेंभी हानि होती है। इसीलिये पहले समयके ब्राह्मणलोक व्यवहारके बराबर होनेसे क्षत्रियोंके घरोंमें भोजन करते थे और क्षत्रिय ब्राह्मणोंके घरोंमे करतेथे तथा राजालोक अपनी कन्या-भी ब्राह्मणोंको देते थे और केई एक ब्राह्मणोंने क्षत्रि-योंकोभी अपनी कन्या देदीथी जैसेकि ययातिराजाको शुक्राचार्यने अपनी कन्या दीथी तथा शुक देवने अनूहरा-जाको अपनी कन्या दीथी इत्यादि इतिहास महाभारत हरिवंश आदिपुराणोंमें प्रसिद्ध हैं यातें अपनी जातिमें और अपनी जातिके समीप जातिवालोंमें बराबर व्यव-हार होनेसे सम भावसे वर्तना योग्य है इति ॥ ९८ ॥

बीजेन पुरुषस्योत्तमत्वं कर्मणावा किंच तयोरुभयोः श्रेष्ठमित्यत्र निर्णयं दर्शयति

बीजं प्रधानमित्येके गुणहेतुत्वात् ॥ ९९ ॥

बीजकर्मणोः केचिद्विद्वांसो बीजस्यैव मुख्यत्वं मन्यंते बीजंहि पुरुषस्य सर्वगुणानां मूलकारणमस्ति येये पुरुषे शुभा अशुभा वा गुणा जायंते ते ते सर्वे पितुर्वीर्यमेवानुवर्त्तते शरीराकृतयश्च प्रायो जनानां पितृसदृशा एवावलोक्यंते मयूरादिपक्षिणामुष्ट्रादिपशूनांच वर्णावयवादिवैचित्र्यं बीजनिमित्तकमेवानुभूयते आम्रादिफलानांच मिष्टामिष्टत्वं बीजहेतुकमेवातो बीजस्यैव प्राधान्यमस्तीत्यवसेयम् ॥ ९९ ॥

प्रश्न । वीजसे पुरुषोंका श्रेष्ठपणा है किंवा कर्मोंसे है तथा वीज और कर्म इन दोनोंमें प्रधान कौन है इसका निर्णय दिखलाते हैं । उत्तर, बीजं प्रधानमित्येके गुणहेतुत्वात् ॥ वीज और कर्म इन दोनोंमें केई एक विद्वान् लोक बीजकोहि मुख्य मानते हैं क्योंकि बीजहि पुरुषके सब गुणोंका मूल कारण है जो जो पुरुषमें शुभ अथवा अशुभ गुण होते हैं सो सो सबी पिताके वीजके अनुसारहि होते हैं और पुरुषोंके शरीरोंके आकारभी प्रायः पिताके बराबरके देखनेमें आते हैं तथा मोर आदि पक्षियोंके और ऊंट आदि पशुवोंके शरीरोंके रंग और अव-

यवोंकी जो विलक्षणता है सोभी बीजके निमित्तसे प्रतीत होती है तथा आम्र आदि फलोंका जो मीठा खट्टापण है सोभी बीजके कारणसेहि होवे है यातें बीजकीहि सब जगा प्रधानता जाननी चहिये इति ॥ ९९ ॥

कर्मेत्यन्येसंस्काराधायित्वात् ॥ १०० ॥

अन्येतु केचिन्नीतिनिपुणाः कर्मैव मुख्यमस्तीत्यभिवर्णयंति कर्मभिरेव पुरुषेषु शुभाशुभसंस्काराधानं जायते बीजतो दुष्टा अपि सत्संगादिवशेन शुभकर्मसु प्रवृत्ताः कालेन जगति श्रेष्ठत्वमायांति यथा काकभुशुंडतुलाधारव्याधादयः पुराणेषुप्रसिद्धाः दुष्टाचारपरित्यागान्निरंतरं शुभाचारनिषेवणेन परंपरया मनुष्याणां बीजशुद्धिरप्युपजायते पशूनां चाश्वादीनां बीजतोतिकृशत्वादियुक्तानामपि सम्यक्तया पानभोजनपोषणादिकर्मणा पुष्टत्वादिकं कालेन संभवति ततोग्रे तदनुसारेण तेषां बीजेपि वैलक्षण्यं जायते फलानां चाम्रादीनां कर्त्तनेनान्यवृक्षशाखायोजनेन गुडरसादिनिषेचनेनच कर्मणा कालेन मिष्टत्वादिकमुपजायते बहवश्च मुनयो योगिनस्तपस्विनो जपतपोयोगादिकर्मभिरेव सिद्धिमुपगतास्तस्मात्कर्मणएव प्राधान्यमस्तीत्यभ्युपगंतव्यम् ॥ १०० ॥

कर्मेत्यन्ये संस्काराधायित्वात् ॥ तथा दूसरे केईएक नीतिशास्त्रके जाननेवाले विद्वान् लोक कर्मकोहि मुख्य कहते हैं क्योंकि कर्मोंसेहि पुरुषमें शुभ अथवा अशुभ संस्कारोंका प्रवेश होवे है बीजसे दुष्ट पुरुषभी सत्संग आदिके वशसे शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त हूये काल पायकरके जगत्में श्रेष्ठपणेको प्राप्त होजाते हैं जैसे कि काकभुशुंड तुलाधार व्याध भीलनी आदिपुराणोंमें प्रसिद्ध हैं, और दुष्टाचारको छोडकर निरंतर शुभ आचारके सेवन करनेसे परंपरासे फिर मनुष्योंका बीजभी शुद्ध होजाता है तथा जन्मसे पतले दुबले घोडे आदि पशुभी अच्छीतरह खानपान पोषण आदिकर्मसे कुछ कालमें मोटे ताजे होजाते हैं तो फिर आगे तिसके अनुसार तिनके बीजमेंभी फरक पडजाता है तैसेहि आम्र आदिक फलोंकाभी काटनेछांटने पोंदेलगानेसे और तिनके मूलमें गुडरस आदि सिंचन करनेसे काल पायकर मीठापण आदि हो जावे है तथा बहुतसे ऋषि मुनि योगी तपस्वी लोक जप तप योगाभ्यास आदि कर्मोंके प्रभावसेहि सिद्धिको प्राप्त होते भये हैं यातें कर्महि प्रधान जानना चहिये इति ॥ १०० ॥

द्वयमेकत्र पूजितम् ॥ १०१ ॥

यदि शुद्धं बीजं कर्मच शुभमुभयमेकत्र पुरुषे समन्वितं भवेत् तदा तदतिशोभनं सर्वत्र श्लाघास्पदं विज्ञेयं यथा गौतमवसिष्ठपराशरादयो ब्रह्मर्षयो जनकरघुयुधिष्ठिरादयो राजर्षयश्चोभयतः शुद्धा बभूवुरिति ॥ १०१ ॥

द्वयमेकत्र पूजितम् ॥ और जो बीज शुद्ध और कर्मभी शुभ यह दोनों एक जगा पुरुषमें मिलजावें तो वह बहुतहि शोभन और सब जगा प्रशंसा योग्य जानना चहिये जैसेकि गौतम वसिष्ठ पराशर आदि ब्रह्मऋषि और दशरथ जनक युधिष्ठिर आदिक राजऋषि बीज और कर्म दोनों तरफसे शुद्ध होते भये हैं इति ॥ १०१ ॥

एवं मतांतरविकल्पं दर्शयित्वाथेदानीं सिद्धांतमाह

कर्मप्राधान्यमुत्कर्षात् ॥ १०२ ॥

बीजकर्मणोरुभयोः कर्मणएव मुख्यत्वं विज्ञेयं कुतः कर्मणोहि सर्वत्रोत्कृष्टत्वं दृश्यते बीजतो नीचा अपि श्रेष्ठ कर्मप्रभावेण जगति पूज्यत्वमधिगच्छंति बीजतः श्रेष्ठाश्चापि नीचकर्मनिषेवणेन नीचत्वमायांतीत्येवमन्वयव्यतिरेकेण कर्मणएव मुख्यत्वमवसीयते ॥१०२॥

इसप्रकार दूसरे विद्वानोंका मतविकल्प दिखाकरके अब शास्त्रका सिद्धांत कहते हैं। कर्मप्राधान्यमुत्कर्षात्॥ बीज और कर्म इन दोनोमें कर्मकोहि मुख्य जानना चहिये क्योंकि सब जगा कर्मकी हि उत्कृष्टता देखनेमें आवे है बीजसे नीच पुरुषभी श्रेष्ठ कर्मके प्रभावसे जगत्में पूज्यपणेको प्राप्त हो जाते हैं तथा बीजसे श्रेष्ठ भी नीच कर्मोंके सेवन करनेसे नीचपणेको प्राप्त हो जाते हैं इसप्रकार अन्वय व्यतिरेकसे कर्मकाहि मुख्यपणा निश्चय होवे है इति ॥ १०२ ॥

किंच

निराकरणात् ॥ १०३ ॥

यदि कदाचित्कश्चिदुत्तमजातीयो ब्राह्मणादिरेकदापि श्वपचादिना केनचिन्नीचेनसहाशनादिकं कुरुते तस्य सद्यएव स्वज्ञातिभिर्जनैर्जातितो बहिष्करणं क्रियते सच पतित इत्यभिधीयते ततोपि कर्मणएव प्राधान्यमुपधार्यम् ॥ १०३ ॥

निराकरणात् ॥ तथा जो कदाचित् कोई ब्राह्मण आदि उत्तम जातिका पुरुष एक वारभी किसी चंडाल आदि नीचके साथ भोजन आदि करलेवे है तो तिसको

तत्कालहि ज्ञातिके लोक अपनी जातिसे बाहिर निकाल देते हैं और सो पतित होगया कहलाता है यातेंभी कर्म-कीहि प्रधानता जाननी चहिये इति ॥ १०३ ॥

नियमादर्शनात् ॥ १०४ ॥

श्रेष्ठजातिष्वेव शुभकर्माणो मनुष्या जायंते नेतरासु क्वचिदितिनियमो नास्ति दृश्यंतेहि नीचजातिष्वपि शुभकर्माणो जनाः प्रादुर्भवंतः श्रेष्ठजातिषु च नीचकर्माणः। नात्र बीजव्यभिचारः कल्पनीयस्तस्यानिश्चितत्वात् ब्राह्मणानां यद्विद्याध्ययनशमादमादित्वं क्षत्रियाणांच शूरवीरत्वादिकं म्लेच्छजातिष्वपि क्वचित् तदुपलभ्यते ब्राह्मणेष्वप्यनधीतशास्त्रा मूर्खाः सदाचारवर्जिता दृश्यंते क्षत्रियेषु विलासपरायणाः शरीरारामा युद्धकातरा भीरव उपलभ्यंते ततः कर्मणएव प्राधान्यं निश्चीयते यथा किलाम्रफलस्य रूपरसादिकमन्यजातिफलेषु नानुगच्छत्येवं यदि ब्राह्मणगुणा ब्राह्मणेष्वेवोपलभ्येरन् नान्यत्र क्षत्रियगुणाश्च क्षत्रियेष्वेव भवेयुस्तदा तु बीजस्य प्राधान्यं स्यात् परंतु नैवं नियमो दृश्यते तस्मात्कर्मणएव मुख्यत्वं बोद्धव्यम् ॥ १०४ ॥

नियमादर्शनात् ॥ किंच उच्चजातियोंमेंहि शुभकर्म

करनेवाले मनुष्य जन्मते हैं दूसरी जातियोंमें नहि जन्मते ऐसा कुछ नियम नहि देखनेमें आता है क्योंकि नीच जातियोंमें भी शुभकर्म करनेवाले पुरुष देखनेमें आते हैं और उच्च जातियोंमें नीच कर्म करनेवाले भी देखनेमें आते हैं यहां व्यभिचारसे वीजमे फेरफार होना नहि समझना चहिये क्योंकि इस वातका कुछ पूर्ण निश्चय नहि हो सकता है और ब्राह्मणोंके जो विद्या पठन शमदम आदि लक्षण हैं और क्षत्रियोंके जो शूरवीरपणा आदि लक्षण हैं सो म्लेच्छ जातियोंमें भी क्वचित् देखनेमें आते हैं तथा ब्राह्मणोंमेंभी वहुतसे विना शास्त्र पढे हूये मूर्ख सदाचारसे रहित देखनेमें आते हैं तथा क्षत्रियोंमेंभी वहुत लोक भोगविलास परायण शरीरके आरामवाले युद्धमें कायर डरपोक देखनेमें आते हैं इसलिये कर्मकी प्रधानता निश्चय होवे है किंच जैसे आमके फलके रूपरस आदि गुण दूसरे फलोंमें नहि जासकते तैसेहि जो ब्राह्मणोंके गुण ब्राह्मण जातिमेंहि होते क्षत्रियोंके गुण क्षत्रियजातिमें हि होते दूसरोंमे नहि दीखते तो कदाचित् वीजकी मुख्यता होसकती है परंतु ऐसा देखनेमें नहि आता ब्राह्मणक्षत्रियादिके गुण म्लेच्छादिजातियोंमेंभी देखनेमें आते हैं और म्लेच्छोंके गुण क्वचित् ब्राह्मण-

क्षत्रियोंमेभी देखनेमें आते हैं यातें कर्मकी मुख्यता जाननी चहिये इति ॥ १०४ ॥

किंच

शरीरादेस्तदनुसारित्वाच्च ॥ १०५ ॥

मनुष्यादिसर्वजीवानां जातिः शरीरमायुःस्वभावो भोगश्चेत्यादिकं सर्वं पूर्वकर्मानुसारेणैवोत्कृष्टमपकृष्टं वा संजायते यद्यप्याादिसर्गे बीजमेव प्रधानं भवति परंतु सर्गांतरेषु सर्वत्र कर्मैवोच्चनीचत्वकारणतामायाति तथोक्तं बृहदारण्यकोपनिषदि 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति महाभारतेपि 'शुभैराप्नोति देवत्वमशुभैर्नारकीं गतिम्। उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवश' इत्यतः कर्मण एव प्राधान्यमस्तीत्यवगंतव्यम् ॥ १०५ ॥

शरीरादेस्तदनुसारित्वाच्च ॥ किंच मनुष्य आदि सव जीवोंका जन्म जाति शरीर आयु स्वभाव भोग इत्यादि सर्व पदार्थ पूर्वकर्मोंके अनुसारहि उत्तम या नीच होते हैं यद्यपि आदिसृष्टिमें बीजकीहि मुख्यता होवे है परंतु

पीछेके सर्गोंमे तो सब जगा कर्महि नीचऊंचपणेमें कारण होते हैं तथा बृहदारण्यक उपनिषत्‌मेंभी लिखा है (यह जीव जैसे कर्म और आचरण करता है तैसाहि जन्म लेता हे शुभ कर्मोंवाला श्रेष्ठ होता है नीच कर्मोंवाला नीच होता है पुण्यसे पवित्र कुलमें होता है पापसें नीच कुलसें होता है इति) तथा महाभारतमें व्यासजीकाभी वचन है (यह जीव शुभ कर्मोंकरके देवता होता है पापकर्मोंसे पशु आदि होता है और पुण्यपाप दोनोंके मिले होनेसे मनुष्य होता है इति) यातेंभी कर्मकीहि मुख्यता जाननी चहिये इति ॥ १०५ ॥

एवं प्रासंगिकं बीजकर्मणोर्निर्णयं निरूपयित्वाधुना प्रकृतस्य भूतहितस्य प्रकारं वर्णयति

सुखदुःखयोरात्मतुल्यत्वम् ॥ १०६ ॥

मनुष्यपशुपक्ष्यादिसमस्तजंतूनामेकपितुरीश्वरस्य सकाशादुत्पन्नत्वात्सर्वत्र सर्वेषु स्वबंधुबुद्ध्यावर्त्तनीयं तेषां सुख दुःखं चात्मसुखदुःखोपमं द्रष्टव्यं यथा- त्मनः सुखमनुकूलं दुःखं च प्रतिकूलं प्रतिभात्येवमेव जंतुमात्रस्य सुखमनुकूलं दुःखं च प्रतिकूलमस्तीति विज्ञेयं तथा च व्यासवचनं (मातृवत्परदारेषु परद्र- व्याणि लोष्टवत् । आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यती'ति ॥ १०६ ॥

इसप्रकार बीचमें प्रसंगसे बीज और कर्मका निर्णय दिखलाकर अब प्रथमसे चलाहूया जो भूतहितका प्रकरण है तिसका प्रकार निरूपण करते हैं (सुखदुःखयोरात्मतुल्यत्वम् ॥ पूर्वोक्त रीतिसे मनुष्य पशु पक्षि आदि सर्व जीव एकहि पिता परमेश्वरसे उत्पन्न हूये हैं और सब आपुसमें बराबर हैं केवल कर्मोंके वशसे तिनके शरीर भिन्नभिन्न आकारके हैं इसलिये सर्व जीवोंमें अपने भाई-बंधुके समान वर्ताव करना चहिये तिनके सुख और दुःखको अपने सुखदुःखके बराबर समझना चहिये जैसे अपनेको सुख अच्छा और दुःख बुरा मालूम पडता है तैसेहि सब जीवोंको सुख अच्छा लगता है और दुःख बुरा लगता है तथा व्यासजीनेभी शांतिपर्वके मोक्षधर्ममें कहा है (जो पुरुष पराई स्त्रियोंको अपनी माताके समान और पराये धनोंको मिट्टीके डेलेके समान और सब भूत प्राणियोंको अपने जीवात्माके बराबर देखता है सोई ठीक देखता है इति) ॥ १०६ ॥

ततः किंविधेयं

परसुखसाधनानुष्ठानम् ॥ १०७ ॥

मनसा वाचा शरीरेण च सर्वोपायैः सर्वत्र सर्वथा

परेषां मनुष्यपशुपक्ष्यादि सर्वेषां जंतूनां यथा सुख-प्राप्तिर्जायेत तथा प्रवर्त्तितव्यं येन येन साधनेन तेषां सुखोत्पत्तिर्भवेत् तस्य तस्यैव नित्यमनुष्ठानं विधेयं तद्यथा मनुष्याणां हेतोः वापीकूपतडागारामादिनिर्माणं दुर्गमार्गेषु यथायोग्यमन्नजलपानविश्रामस्थानादिव्यवस्थाकरणं विद्याशालौषधालयादिप्रवर्त्तनं दुःखितदरिद्रानाथादीनां परिपालनं च तथा पशूनां हिंसाविवर्जनं तेषां चरणार्थं विपुलवनानां जंगलानां च विसर्जनमतिभारादिवहनेन तेषां दुःखानुत्पादनं च पक्षिणामेवं वधबंधादिविवर्जनं तदर्थं गृहोपरिस्थले-ष्वन्नकणानां विकिरणं वृक्षशाखासु च जलदोलाबंधनं तद्वत्कीटादिजंतुरक्षार्थं मार्गेषु निरीक्ष्य गमनं तेषां बिलेषु पिष्टान्नकणानामास्तरणं मक्षिकाद्यर्जितमध्वादिपदार्थानामनपहरणं चेत्येवं सर्वेषां जंतूनां सुख-साधनक्रियाणामनिशमनुष्ठानं विधेयमिति ॥ १०७ ॥

परसुखसाधनानुष्ठानम् ॥ इसप्रकार सब जीवोंके सुख-दुःख अपने समान समझकर सर्वदा काल सर्व जगा मनुष्य पशुपक्षि आदि सर्व जीवोंको मन वाणी और शरीरकरके सुख उपजानेका उपाय करना चहिये जिस-जिस उपाय करनेसे तिनको सुखकी प्राप्ति होवे तिसति-

ाहि उपायको करना चहिये सो जैसे मनुष्योंके सुखके-
लेये वावली कूये तलाव वगीचे बनाने और रास्तोंमें
ानीकी प्याव अन्नके सदावरत धर्मशाला आदि बनाने
विद्याशाला औषधालय आदि जारी करने दुःखी दरिद्री
लोकोंके लिये अनाथालय जारीकरने चहिये और पशु-
ओंके हितके लिये पशुहिंसा छोडना छुडाना तिनके चर-
नेकेलिये वडे बडे घासके खेत जंगल रखने तिनपर
अधिक भार नहि लादना तिनको धूप शीत आदिकोंसे
वचाना चहिये तथा पक्षियोंके सुखकेलिये पक्षियोंको
जाल और पिंजरोंमें नहि फसाना तिनकेलिये घरोंकी
छतपर अन्नके कणके डालने वृक्षोंकी शाखायोंमें जलके
कूंडे वांधने चहिये तथा कीडे मकौडोंके सुखकेलिये
रास्तेमें देखदेखकर चलना तिनके बिलोंमे पिसेहूये अन्न-
को डालना मक्खी भंवरा आदिका एकठा कियाहूया
सहत विगेरा नहि छीनना चहिये इसरीतिसे सर्व जीवोंके
सुख देनेके उपायोंका सर्वदा काल आचरण करना
योग्य है इति ॥ १०७ ॥

तद्विपरीतवर्जनं च ॥ १०८ ॥

तेषां मनुष्यपशुपक्ष्यादीनां जंतूनां यद्विपरीतं सुख-

साधनविरुद्धमसुखोत्पादकं कर्म भवेत् तस्य सर्वथा सर्वत्र वर्जनं कर्त्तव्यं वाङ्मनःकर्मभिर्येन कर्मणा परेषां प्राणिनां साक्षात्परंपरया वा दुःखोत्पत्तिर्जायेत तत्कदापि नाचरणीयं तदेवं परसुखसाधनानुष्ठानेन तद्विपरीतवर्जनेन च सम्यक्तया भूतहितं संपादितं भवतीति ॥ १०८ ॥

तद्विपरीतवर्जनं च ॥ तथा तिन मनुष्य पशु पक्षि आदि जीवोंके प्रतिकूल जो तिनके दुःख पहुंचानेका काम होवे तिसका सर्वप्रकारसे परित्याग करदेना चहिये अर्थात् मन वचन शरीर करके जिस बातसे साक्षात् अथवा परंपरा किसी जीवको दुःख उपजे तिस कामको कबी नहि करना चहिये सो इसप्रकार जीवोंके सुखके उपाय करनेसे और तिनके दुःखके कारणोंको छोडनेसे ठीकठीक भूतहितधर्मका संपादन होवे है इति ॥ १०८ ॥

स्वतः परतो वा ॥ १०९ ॥

परसुखसाधनानुष्ठाने वापीकूपतडागादिनिर्माणादिकं यदुक्तं तद्यदि स्वगृहे धनादिकं पुष्कलं भवेत् तदा तु स्वत एव कर्त्तव्यं धनाद्यनुकूलताभावे तु स्वबंधुमित्रादितः स्वशिष्यसेवकादितो वोपदेशादिना-

न्यतो वा तदर्थं प्रबंधान् कारयेत् परान्प्रेरयित्वा धर्मकार्यनिर्वहणमपि स्वकृतेन समानं भवतीति बोद्धव्यम् ॥ १०९ ॥

स्वतःपरतो वा ॥ दूसरोंके सुखकेलिये जो बावली कूये सदा वरत धर्मशाला आदिक बनानेकी आवश्यकता कथन करी है सो जो अपने घरमें पुष्कल धन होवे तो अपने पाससे बनाने चहिये और जो अपने पास अधिक धनकी अनुकूलता नहि होवे तो अपने वंधुमित्रोंसे वा अपने शिष्य सेवकोंसे वा और लोकोंसे उपदेश आदि करके प्रबंध कराना चहिये क्योंकि दूसरोंको प्रेरणाकरके धर्मके कार्य चलानेसेंभी अपने कियेके समान फलकी प्राप्ति होवे है इति ॥ १०९ ॥

स्वार्थवर्जं पुण्यहेतुत्वात् ॥ ११० ॥

भूतहितधर्मस्यासेवनं कुर्वाणस्तदर्थं परैरर्पितधनादिषु पदार्थेषु स्वार्थबुद्धिं न कुर्यात् स्वार्थं विना हि किलकृतानि धर्मकार्याणि कर्तुः पुण्यहेतुतामुपगच्छंति स्वार्थपराणां तु द्रव्यादिलोभेन परेषां धर्मकार्येषु प्रवृत्तानां भृत्यानामिव धनकणलाभ एव फलं जायते नान्यत्किंचिदमुत्र सुखावहं फलं तेषां भवतीति वेदितव्यमतो न धर्मकार्येषु स्वार्थबुद्धिराश्रयणीया ॥ ११० ॥

प्रकार वर्णन करके अब पहले मनुष्योंमें कौनकौन मनुष्य हितकरनेके योग्य हैं सो दिखलावेहैं। अशक्तेष्वावश्यकत्वात् ॥ पहले तो मनुष्योंमें जो धन पैदा करनेमें अशक्त हैं जिनके शरीर काम करनेमें असमर्थ हैं जैसे कि अंधे पांगले गुंगे बहरे कुष्ठी बूढे बालक दरिद्री आदि जो लोक व्यवहारकरनेमें समर्थ नहिहैं तिनका अन्न वस्त्र स्थान आदि देनेसे हित करना चहिये क्योंकि तिनका कोई दूसरा उपाय नहि होनेसे पराई सहायताविना निर्वाह नहि होसकेहै यातें समर्थ पुरुषोंको तिनका सर्वप्रकारसे परिपालन करना योग्य है इति ॥ ११२ ॥

जपतपोध्याननिष्ठेषूत्तमत्वात् ॥ ११३ ॥

ये च मनुष्येषु स्वस्थशरीरा अपि संसारं मिथ्यात्वेन ज्ञात्वा केवलं स्वकल्याणाय त्यक्तजगद्व्यवहारा विरक्तात्मानो निर्दंभाः साधवोविप्रा वा जपतपोध्यानादिषु मोक्षसाधनेषु सततं निरताः संति तेषु चाप्यन्नजलवस्त्रस्थानादिप्रदानेन परिचर्यात्मकं हितमाचरणीयं तेषामपि त्यक्तव्यवहारत्वान्निर्द्रव्यत्वाच्च परिचरणमावश्यकं ते हि लोकेभ्यः सदाचारेण मोक्षधर्मोपदेशेन च मुक्तिपथं प्रदर्शयंत्यतः पुरुषेषु श्रेष्ठत्वात्तेषां सत्करणं युक्तमेव ॥ ११३ ॥

जपतपोध्याननिष्ठेषूत्तमत्वात् ॥ और जो मनुष्योंमें निरोग शरीरभीहैं परंतु संसारको विवेकज्ञानसे मिथ्या जानकर केवल अपने कल्याणकेलिये जगत्के व्यवहार छोडकर विरक्त और दंभरहित साधुलोक वा ब्राह्मण जप तप ध्यान आदि मोक्ष साधनोंमे निरंतर लगेहूये हैं तिनकाभी अन्न वस्त्र स्थान आदि अर्पणकरके सेवारूपी हित करना चहिये क्योंकि सब व्यवहार छोडनेसे और द्रव्यसे रहित होनेसे तिनकी परिचर्या करनी आवश्यक है वह लोक अपने श्रेष्ठ आचरणोंसे और सत्यधर्मका उपदेश करनेसे प्रजाको मुक्तिका मार्ग वतातेहै यातें सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ होनेसे संसारी पुरुषोंको तिनका सत्कार करना योग्य है इति ॥ ११३ ॥

गुणवत्सु चोपकारित्वात् ॥ ११४ ॥

ये चापि मनुष्येषु वैयाकरणा ज्योतिर्विदश्चिकित्सका धर्मशास्त्रवेत्तारो वैदिककर्मकुशला नीतिनिपुणाः पदार्थविद्याभिज्ञाः शास्त्राध्यापका धर्मोपदेशका धर्मगुरवश्चेत्यादयो गुणिनः संति तेष्वपि विद्यार्थिदशायां तदनंतरं च भोजनवसनस्थानपुस्तकादिप्रदानेन हिताचरणं विधेयं ते हि किल कालेन प्राप्तविद्या-

स्तंत्प्रचारेण लोकानामुपकारं कुर्वंत्यतस्तेषामपि साहाय्यप्रदानं सत्करणं च समंजसम् ॥ ११४ ॥

गुणवत्सु चोपकारित्वात् ॥ तथा जो मनुष्योंमें गुणवान् पुरुष हैं जैसेकि व्याकरणी ज्योतिषी वैद्य धर्मशास्त्री यज्ञादि वैदिक कर्ममें कुशल नीति जाननेहारे पदार्थविद्या जाननेहारे शास्त्रोंके पढने पढानेवाले धर्मका उपदेश करनेहारे गुरु और धर्मके आचार्य हैं तिनकाभी विद्यार्थीदशामें अथवा विद्वान् दशामें भोजन वस्त्र स्थान आदि देनेसे सहायता सत्काररूप हित करना चहिये क्योंकि वह लोकभी विद्या और गुणोंको पूर्णकरके तिनके आगे लोकोंमे प्रचार करनेसे जगत्का उपकार करतेहैं यातें तिनकी सहायता और सत्कार करनाभी युक्त है इति ॥ ११४ ॥

मनुष्येष्विव पश्वादिष्वपि हिताचरणमतिदिशति

पशुपक्षिकीटादिष्वपि साम्यात् ॥ ११५ ॥

प्रायो मनुष्या मनुष्येष्वेव स्वजात्यभ्यासेन हिताचरणं कुर्वंति नेतरजीवेषु नैतावता सम्यग्भूतहितं कृतं भवत्यतः पशुपक्षिकीटादिषु सर्वेष्वपि प्राणधारिषु जंतुषु पूर्वोक्तक्रमेण हिताचरणं विधेयं कुतः मनु-

ष्यपशुपक्षिकीटादिषु जीवात्मनस्तुल्यत्वात् भूतहित-
धर्ममाचरता पुरुषेण न तत्रोच्चनीचादिकल्पना कार्या
प्रत्युत मनुष्येभ्यः पशुपक्षिकीटादिष्वल्पव्ययेनाल्प-
प्रयासेन च हितं कर्तुं शक्यते तस्मात्सर्वत्र पक्षपातं
हित्वा सर्वेषामेव जंतूनां समानतया यथायोग्यमाद-
रपूर्वकं सततं हितमाचरणीयं तथाच सतामाभाषणं
(अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् । उदार-
चरितानां तु वसुधैव कुटुंबकमिति) ॥ ११८ ॥

अव मनुष्योंकी न्यांई पशु पक्षि आदि जीवोंकाभी
हित करना कथन करतेहैं । पशुपक्षिकीटादिष्वपि सा-
म्यात् ॥ प्रायः मनुष्योंका यह स्वभावहै कि अपने
सजातिके ख्यालसे मनुष्य मनुष्योंकाहि ज्यादा करके
हित करते हैं और दूसरे जीवोंकी तरफ ध्यान नहि
देतेहैं सो इतनेमें जीवहित धर्म संपूर्ण नहि होवेहै इस-
लिये मनुष्योंकी न्यांई पशु पक्षि कीडे आदि सर्व जीव-
मात्रका पूर्वोक्त रीतिसे अन्न जल आदिकरके हित करना
चाहिये क्योंकि मनुष्य पशु पक्षि आदि सर्व प्राणियोंमें
जीवात्मा वरावर है इसलिये जीवहितधर्मके करनेवाले

पुरुषको जीवोंके ऊंच नीच छोटे वडे शरीरोंका ख्याल नहि करना चहिये केवल आत्मा मात्र दृष्टि करनी चहिये उलटा मनुष्योंकी अपेक्षासे पशु पक्षि कीडे आ-दिका थोडे खर्च और थोडे परिश्रमसेहि हित होसकताहै जैसेकि एकमनुष्य योग्य आहारसे वहुतसे पक्षि और कीडोंका निर्वाह होसकताहै इसलिये सवजगा पक्षपात छोडकर यथायोग्य आदरपूर्वक सर्वदा काल सव जीवों-का हिताचरण करना योग्यहै तथा नीतिशास्त्रकाभी वचनहै (यह हमारा है और यह दूसरेका है ऐसी गिनती क्षुद्र चित्तवाले पुरुषोंकी होवेहै और उदार चित्तवाले पुरुषोंको तो सारी पृथिवीके जीव अपने कुटुं-वी हि दीखते हैं इति) ॥ ११५ ॥

तदेवमाधिभौतिकधर्म निरूपयित्वाथेदानीं तस्य फलं वर्णयति

धर्मसंचयो भूतहितात् ॥ ११६ ॥

इत्थमुक्तप्रकारेण भूतहितधर्ममाचरतः पुरुषस्य का-लेन विपुलधर्मसंचयो जायते यथा यथायं भूतहितमा-चरति तथा तथैवास्य प्रतिदिनं धर्मस्य वृद्धिर्जायते न हि धर्माधर्मौ काष्ठलोष्ठादितः समुत्पद्येते भूतसंसर्गा-

देव हि धर्माधर्मौ प्रभवतः । भूतानां सुखप्रदानेन धर्मो दुःखप्रदानेन चाधर्मः प्रादुर्भवतीति प्रसिद्धं च महाभारते शांतिपर्वणि जाजलिसंज्ञको मुनिः स्वशिरसि पक्षिणोंडानिपोषयित्वा सिद्धो वभूव कपोतश्च वने व्याधस्य रक्षां विधाय सस्त्रीकः स्वर्गं जगामेत्येवमन्येपि सहस्रशः पुरुषा जीवरक्षया देवपुरं प्राप्ताः । तस्माद्धर्मसंचयाभिलाषिभिरनिशं सर्वेषां भूताना सर्वत्र सर्वदा हितमाचरणीयम् ॥ ११६ ॥

इसप्रकार आधिभौतिक धर्मका निरूपण करके अव तिसका फल कथन करेहैं (धर्मसंचयो भूतहितात् ॥) इसप्रकार पूर्वोक्त रीतिसे जीवहितरूप आधिभौतिक धर्मके आचरण करनेवाले पुरुषका काल पायकर वहुत धर्मका संचय होवेहै जैसेजैसे यह पुरुष जीवहितधर्मका आचरण करताहै तैसेतैसेही नित्य धर्मकी वृद्धि होतीहै क्योंकि इस जगत्में धर्म और अधर्म कुछ लकडी मृत्तिका आदिमेंसे नहि पैदा होते यह तो केवल भूतप्राणियोंके संवंधसेहि उत्पन्न होतेहैं सो जीवोंके सुख देनेसे धर्मकी उत्पत्ति होवेहै और जीवोंको दुःख देनेसे पापरूप अधर्मकी उत्पत्ति होवेहै तथा महाभारतके शांतिपर्वके मोक्षधर्ममें लिखाहै कि जाजलिनामका ऋषि

अपने शिरकी जटामे पक्षियोंके अंडोंको पोषण करनेसे सिद्धिको प्राप्त होताभया और बनमें कपोतपक्षी व्याधके प्राण बचानेसे अपनी स्त्रीकेसहित स्वर्गको जाताभया इसीप्रकार दूसरे हजारों धर्मात्मा पुरुष जीवोंकी रक्षा करनेसे स्वर्गको प्राप्त होतेभयेहैं यातें धर्मसंचय करनेकी इच्छावाले पुरुषोंको सबजगा सर्वदा काल सर्वप्रकारसे जीवोंका हितकरना योग्य है इति ॥ ११६ ॥

तेनोभयसिद्धिरिच्छयासिद्धिरिच्छया ॥११७॥

तेन भूतहिताचरणजातेन धर्मसंचयेन पुरुषस्येच्छानुसारेणोभयोर्भोगमोक्षयोः सिद्धिरुपजायते स्वर्गादिभोगाभिलाषिणः सकामस्य स्वर्गप्राप्तिर्भवत्यन्यस्य भोगेभ्यो व्युपरतस्य तु मोक्षाभिलाषिणश्चित्तशुद्ध्या ज्ञानप्राप्तिद्वाराजन्ममरणात्मकसंसारबंधनान्मोक्षो भवतीत्येवं भोगमोक्षयोः साधनत्वात्कल्याणाकांक्षिभिर्नरैराध्यात्मिकाधिदैविकधर्मवदाधिभौतिकधर्मस्याप्यवश्यमनुष्ठानं विधेयमिति वीप्सापादपूर्त्यर्थो ११७

इति श्रीधर्मानुशासने तृतीयः पादः

तेनोभयसिद्धिरिच्छयासिद्धिरिच्छया ॥ जब जीवहित-रूपधर्मका पूर्णरितिसे संचय होजावेहै तो पुरुषकी इच्छाके अनुसार भोग और मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति होवे है अर्थात् स्वर्गादिभोगोंकी इच्छावाले सकामपुरुषको तो स्वर्गकी प्राप्ति होवेहै और जो भोगोंसे विरक्त केवल मोक्षकी इच्छावाला होवेहै तिसको चित्तकी शुद्धिसे विवेकज्ञानकी प्राप्तिद्वारा जन्ममरणरूप संसारवंधनसे मुक्तिकी प्राप्ति होवेहै इसप्रकार भोग और मोक्ष दोनोंकी प्राप्तिका साधनभूत होनेसे कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंको आध्यात्मिक और आधिदैविक धर्मकी न्यांई आधिभौतिक धर्मका भी अवश्य अनुष्ठान करना योग्यहै इति ॥११७॥

इत्याधिभौतिकधर्मनिरूपणम् ॥

इति श्रीपरमहंसपरीव्राजकाचार्य ब्रह्मानंदस्वामिविरचिते धर्मानुशासने तृतीयः पादः



तदेवं प्रथमपादे धर्मस्यावश्यकर्त्तव्यतां द्वितीये वेदस्मृतिपुराणादीनां प्रामाण्यं तृतीये पुनराध्यात्मिकादिभेदेन धर्मस्य त्रिविधत्वं निरूपयित्वाथेदानीं धर्मस्य किं फलं कथं जीवस्य देहात्पृथक्त्वं कथमस्य बंधनं भवति कथं चास्य ततो मुक्तिरित्येतन्निरूपणार्थमिदमारभ्यते

इसप्रकार प्रथम पादमे धर्म करनेकी आवश्यकता और दूसरे पादमे वेदस्मृतिपुराणादिकोंकी धर्ममें प्रमाणता तथा तीसरे पादमे आध्यात्मिक आदिभेदसे धर्मका त्रिविधपणा निरूपण करके अव धर्मका क्या फलहै देहसे जीव कैसे न्याराहै किसप्रकार जीवोंको संसारबंधनकी प्राप्ति होवेहै और कैसे तिनकी बंधनसे मुक्ति होवेहै यह सर्व वार्ता निरूपण करनेके लिये इस चतुर्थ पादका प्रारंभ करतेहैं

इहामुत्रसुखं धर्मफलम् ॥ १ ॥

अत्र लोके परलोके च धर्मस्योभयत्र सुखरूपं फलं भवति धर्माचरणेनात्र धनधान्यसंतत्यारोग्यादिकं वर्द्धते धर्मात्मायं पुण्यशील इति लोके सर्वत्र यशश्च प्राप्नोति परलोके च धार्मिभिर्धर्मसंचयानुसारेण दिव्य-

विमानारोहणामृतपानाप्सरःपरिरंभणस्वच्छंदनंदनवनविहरणादिकं दिव्यसुखं चिरमनुभूयते ये तु केचित्क्वचिदत्र धर्मात्मानोपिपुरुषा रोगादिनिपीडिता व्यवहारसुखविकलाश्च दृश्यंते तत्र पूर्वकृतदुष्कृतकर्मणः फलारंभो द्रष्टव्यः। यथा ते दुष्कृतस्य कर्मणोऽनिष्टं फलमत्रैव लोके परिसमाप्यामुत्र केवलं शुद्धं धर्मफलं लभेरन्नित्यतो न कदापि धर्मस्यानिष्टं फलं शंकनीयं 'यतो धर्मस्ततोजय' इति भारतवचनादिति ॥ १ ॥

इहामुत्रसुखं धर्मफलम् ॥ इसलोक तथा परलोकमे धर्मका दोनों जगा सुखरूप फल होवेहै धर्मके आचरण करनेसे यहां धन धान्य संतति निरोगता आदिकी वृद्धि होवेहै और यह पुरुष धर्मात्माहै पुण्य करनेवालाहै इसप्रकारसे लोकोंमे यशकीभी प्राप्ति होवेहै तथा परलोकमें धर्मात्मा पुरुष अपने धर्मसंचयके अनुसार दिव्य विमानोंपर चडना अमृतका पान करना अप्सरायोंका आलिंगन करना स्वतंत्र नंदनवनमे विचरणा इत्यादि स्वर्गके सुखको चिरकाल पर्यंत अनुभव करताहै और जो इसलोकमें कोई एक धर्मात्मा पुरुषभी रोगोंसे दुःखी और व्यवहारसुखसे रहित देखनेमें आतेहैं तो तहां उनके पूर्वके किये दुष्ट कर्मोंके भोगदेनेका समय समझना।

चहिये सो दुष्टकर्मोंका खराब फल इसीलोकमें समाप्तक-रके फिर परलोकमें केवल शुद्ध धर्मकाहि फल भोगें इसलिये सो दुखी देखनेमें आते हैं यातें धर्मकाफल दुख कवी नहि समझना चाहिये तथा महाभारतमे व्यासजी-काभी वचन है (जहां धर्म होताहै तहांहि सदा जय होतीहै) इति ॥ १ ॥

कीदृशं तद्धर्मजं सुखं

विषयोत्थं सकामानाम् ॥ २ ॥

ये मनसि भोगाभिलाषं निधाय धर्माचरणं कुर्वंति तेषां सकामानां ललनादिविषयजनितमेव सुखं जायते अत्रामुत्रोभयत्रापि विषयसुखं स्वधर्मसंचयानुसारेण तैरवाप्यत इति ॥ २ ॥

प्रश्न । सो धर्मका फलरूप सुख किसप्रकारका होवेहै । उत्तर । विषयोत्थं सकामानाम् ॥ जो लोक प्रथम अपने मनमे भोगोंकी इच्छा रखकर धर्मका आचरण करतेहैं तिन सकाम पुरुषोंको स्त्रीसंभोग आदि विषयजन्य सुख-कीहि प्राप्ति होवेहै अर्थात् इस लोक तथा परलोक दोनों जगामे धर्मसंचयके अनुसार तिनको विषयजन्य सुखकी प्राप्ति होवेहै इति ॥ २ ॥

शांतिमयं तद्विरक्तस्य ॥ ३ ॥

यः किलेहामुत्र भोगाभिलाषरहितो विषयदोषदर्शी विरक्तः केवलं मोक्षोपयोगाय धर्माचरणं कुरुते तस्य धर्मप्रभावेण निर्मलतामुपगते चेतसि शांतिमयं सुखमाविर्भवति ततः क्रमेण स तत्त्वज्ञानमवाप्य कैवल्यमोक्षाय कल्पत इति ॥ ३ ॥

शांतिमयं तद्विरक्तस्य ॥ और जो पुरुष इसलोक तथा परलोकके विषयोंकी इच्छासे रहित विषयोंमे दोष देखनेवाला विरक्त हूया केवल मुक्तिकी इच्छासे धर्मका आचरण करताहै तिसको धर्मके प्रभावसे अंतःकरणके निर्मल होनेसे परमशांतिरूप सुखकी प्राप्ति होवेहै और फिर सो धीरेधीरे क्रमसे तत्त्वज्ञानको प्राप्त होकर कैवल्य मोक्षको प्राप्त होवेहै इति ॥ ३ ॥

धर्माधिक्यात्तदाधिक्यम् ॥ ४ ॥

यथायथा धर्मस्याधिकसंचयो भवति तथा तथैव विषयोद्भवस्य शांतिमयस्य च सुखस्याधिकत्वं भवति कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य तथाचोक्तं बृहदारण्यकोपनिषदि 'ये शतं मनुष्याणामानंदाःस एकः पितॄणामानंदो ये शतं पितॄणामानंदाः स एको गंधर्वाणामा-

नंदो ये शतं गंधर्वाणामानंदाः स एको देवानामानं-
द' इत्येवं धर्मस्यन्यूनाधिकभावेन सुखस्यापि न्यूना-
धिकत्वं भवतीति विज्ञेयमिति ॥ ४ ॥

धर्माधिक्यात्तदाधिक्यम् ॥ जैसे जैसे पुरुषके धर्मकी अधिकता होवेहै तैसेतैसेहि विषयजन्य अथवा शांतिमय सुखभी अधिक होवेहै क्योंकि कारणके अनुसारहि कार्य होवेहै तथा बृहदारण्यक उपनिषत्मेंभी कहाहै (जोमनु-ष्योंका सुखहै तिससे सौगुणा अधिक सुख पितरोंको होवेहै और जो पितरोंका सुखहै तिससे सौगुणा अधिक गंधर्वोंको होवेहै और जो गंधर्वोंको सुखहै तिससे सौगु-णा सुख देवतायोंको होवेहै इति । इसप्रकार धर्मके न्यून अधिकके अनुसार सुखकीभी न्यूनअधिकता होवेहै इति ॥ ४ ॥

एवमधिकारभेदेन समानतया सुखभेदमुक्त्वाधुना तस्य पृथगवधिं दर्शयति

कर्मजमनित्यं वचनात् ॥ ५ ॥

यज्ञतपोदानादिकर्मभिरमुत्र यत्स्वर्गादिकं सुखं प्राप्यते तत्तथाभूतं नित्यं सर्वं कालं न तिष्ठति यावा-न्नेव कर्तुर्धर्मसंचयो भवति तावत्कालमेव स स्वर्गे

सुखमनुभवति पुण्यक्षये चास्मिंल्लोके पुनस्तस्यावतरणं जायते विद्यते हि किलात्र श्रुतिस्मृतिवचनं प्रमाणं तथोक्तं छान्दोग्योपनिषदि 'तद्यथेह कर्मचितोलोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयत इति भगवद्गीतायामपि (ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंतीति) ॥ ५ ॥

इसप्रकार अधिकारके भेदसे सुखका सामान्यरीतिसे भेद कहकर अब भिन्नकरके तिसकी अवधि कथन करेहैं (कर्मजमनित्यं वचनात् ॥) यज्ञ तप दान आदि कर्मों-करके जो स्वर्गआदि सुखकी प्राप्ति होवेहै सो सुख अनित्य होवैहै अर्थात् सर्वदा काल निरंतर स्थिर नहि रहता जितना पुरुषका धर्मसंचय किया होवेहै उतना कालहि सो स्वर्गमें सुखका अनुभव करताहै और पुण्यके समाप्त होजानेसे फिर तिसका मनुष्यलोकमें पतन होवेहै इसवार्तामें श्रुतिस्मृतियोंके वहुतसे प्रमाणहैं तथा छांदो-ग्यउपनिषत्‌में लिखाहै (जैसे इस लोकमें क्रियासे उत्प-न्नहूये खेती व्यापार आदिके फल कुछ कालमे क्षीण होजातेहैं तैसेहि कर्मोंसे उत्पन्न हूये स्वर्गादि फलभी काल पायकर क्षीण होजातेहैं इति) तथा भगवत्‌गीतामें भी लिखाहै यज्ञादि पुण्यकर्म करनेवाले स्वर्गलोकके

सुखोंको भोगकर पीछे पुण्योंके क्षीण मर्त्यलोकमें आतेहैं इति ॥ ५ ॥

उपास्तेश्चिरवेद्यम् ॥ ६ ॥

वेदोक्तक्रमेण कृतानां पंचाग्निपर्यंकप्रणवाद्युपासनानां फलरूपेण निष्पन्नं यत्सुखं तत्कर्मणः सकाशाच्चिरकालमनुभूयते प्रणवाद्युपासनयाहि किलोपासका ब्रह्मलोकं प्रतियंति गत्वा च तत्र स्वर्गादपि सहस्रगुणाधिकं ब्रह्मणस्तुल्यं सुखं भुंजते न च तेषां ततः पुनरस्मिँल्लोके कर्मिणामिवावर्त्तनं जायते 'तेषु ब्रह्मलोकेषु परापरावतो वसंति न तेषां पुनरावृत्तिः न स पुनरावर्त्तते न स पुनरावर्त्तत' इति श्रुतिवचनात् 'ब्रह्मणासह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे परस्यांते कृतात्मानः प्रविशंति परं पद'मिति स्मृतिवचनाच्च ते तत्र महाकल्पावसानपर्यंतं परं दिव्यं सुखं भुक्त्वा ततो महाप्रलये सहैव ब्रह्मणा मोक्षपदं गच्छंत्यतः कल्पस्थायित्वादुपासनायाः सुखं चिरं तिष्ठतीति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥

उपास्तेश्चिरवेद्यम् ॥ तथा वेदमें लिखीहुई रीतिसे पंचाग्निपर्यंक प्रणव आदि उपासनायोंके करनेसे जो

तिनका फलरूप सुख उत्पन्न होवेहै सो कर्मोंकी अपेक्षासे चिरकालपर्यंत रहताहै क्योंकि ओंकार आदिकी उपासना करनेसे उपासक लोक ब्रह्मलोकमें जातेहैं और तहां जाकर ब्रह्माके बराबर स्वर्गसेभी हजारगुणे सुखको भोगतेहैं और तिनका कर्मियोंकी न्यांई फिर इसलोकमें पतन नहि होवेहै (उपासक लोक ब्रह्मलोकमें जाकर महाप्रलयपर्यंत निवास करतेहैं तिनका फिर पीछे पतन नहि होवेहै उपासक फिर ब्रह्मलोकसे लोटकर नहि आताहै) तथा ब्रह्मलोकमे गयेहूये उपासक लोक महाप्रलयके अंतमें ब्रह्माके साथहि परमपदमे प्रवेश करते हैं इति) इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंके प्रमाणसे उपासक लोक ब्रह्मलोकमें महाकल्पपर्यंत दिव्यसुखोंको भोगकर फिर महाप्रलयके अंतमे ब्रह्माके साथ मोक्षपदको प्राप्त होते हैं इसलिये कल्पपर्यंत अर्थात् ब्रह्माकी आयुपर्यंत स्थिर रहनेसे उपासनाका फलरूप सुख चिरकालतक रहता है इति ॥ ६ ॥

ज्ञानजस्यानंत्यमकृत्रिमत्वात् ॥ ७ ॥

सांसारिकभोगजालादुपरतानां शमदमतितिक्षा-

दिगुणयुक्तानां चिरमुपनिषदर्थविचारजनितविवेकसंस्काराणामनिशैकांतात्मध्यानपरायणतोद्भूतसम्यग्ज्ञानानां ब्रह्मनिष्ठानां वर्त्तमानशरीरपातानंतरं यन्मोक्षाख्यं सुखं जायते तस्य कदाप्यंतो न भवति कृत्रिमाण्येव हि वस्तुजातानि क्रमेण क्षीयंते विनश्यंति च ज्ञानस्य तु क्रियाशून्यत्वात्तत्फलं सुखमप्यकृत्रिमत्वादक्षयं भवति तत्त्वज्ञानेनहि जीवः किलेश्वरेणैकीभावं गच्छति न पुनस्ततः परावृत्य स कदापि जीवभावमुपयात्यतः परमेश्वरानुप्रविष्टस्य तस्य पारमेश्वरमनंतमक्षयं सुखं भवतीति ज्ञातव्यम् ॥ ७ ॥

ज्ञानजस्यानंत्यमकृत्रिमत्वात् ॥ तथा जो पुरुष संसारके भोगोंसे उपरामहूये शम दम तितिक्षा आदि गुणोंकरके युक्त होकर चिरकाल उपनिषदोंके अर्थविचारणेसे विवेकके संस्कारोंके सहित एकांतमें आत्मतत्त्वके ध्यानसे पूर्णतत्त्वज्ञानकरके युक्तभये ब्रह्मके स्वरूपमें स्थिरवृत्ति होते हैं तिनको वर्तमान शरीरपातके अनंतर जो मोक्षरूप सुख प्राप्त होवे है सो अनंत होवे है अर्थात् तिस सुखका कबीभी नाश नहि होवे है क्योंकि जो कृत्रिम पदार्थ होते हैं तिनहिका काल पायकर क्षय और नाश होवे है और

तत्त्वज्ञानतो कोई क्रियाजन्य नहिहै इसलिये उसका फल-रूप सुखभी अकृत्रिम होनेसे अक्षय होवे है क्योंकि तत्त्व-ज्ञानसे जीवका ईश्वरके साथ एकीभाव होवे है और फिर कबी तहांसे लोटकर तिसको जीवपणेकी प्राप्ति नहि होवे है ईश्वरमें प्रवेश किये हूये जीवात्माको ईश्व-रके स्वरूपका परम अक्षय और अनंत सुख प्राप्त होवे है इति ॥ ७ ॥

एवं कर्मोपासनाज्ञानजस्य सुखस्यावधिं निरूप-यित्वाधुनाध्यात्मिकादिधर्मानुसारेण परलोकगतिं वर्णयति

सत्यलोकमाध्यात्मिकाः ॥ ८ ॥

तत्र ये पूर्वोक्तमष्टांगयोगात्मकमाध्यात्मिकधर्म-माश्रिता भवंति ते तत्परिपाकेन ब्रह्मणो निवासस्थानं सत्यलोकं प्राप्नुवंति यत्र ते ब्रह्मसमानदिव्याननल्प-कालं भोगान् भुक्त्वा महाकल्पांते ब्रह्मणा सहैव मोक्ष-पदमधिगच्छंतीति ॥ ८ ॥

इसप्रकार कर्म उपासना और ज्ञानके सुखकी अव-धिका निरूपण करके अब आध्यात्मिक आदि धर्मके अनुसार परलोकमें गतिका वर्णन करते हैं (सत्यलोक-

माध्यात्मिकाः ॥ तिनमे जो पुरुष पूर्वोक्त यमनियमादि अष्टांगयोगरूप आध्यात्मिक धर्मका आचरण करते हैं सो तिस धर्मके परिपक्व होनेपर ब्रह्माका निवासस्थान जो सत्यलोक है तिसको प्राप्त होते हैं और तहां सो ब्रह्माके तुल्य दिव्यभोगोंको दीर्घकालपर्यंत भोगकरके फिर महाकल्पके अंतमें ब्रह्माके साथहि मोक्षपदको प्राप्त होजाते हैं इति ॥ ८ ॥

आधिदैविकाः स्वर्लोकम् ॥ ९ ॥

ये किल यज्ञादिभिर्दैवतायजनात्मकमाधिदैविकधर्ममुपासते ते शक्राधिपत्यं नानादेवगणनिवासस्थलं नंदनादिदिव्यारामोपेतं स्वर्गलोकं व्रजंति यत्र ते स्वधर्मसंचयानुसारेण दीर्घकालं स्वर्गसुखं भुक्त्वा कालेन क्षीणपुण्यराशयः पुनरिमं मनुष्यलोकमुपागत्य श्रीमतां शुचीनां गृहेषु जायंत इति ॥ ९ ॥

आधिदैविकाः स्वर्लोकम् ॥ तथा जो पुरुष पूर्वोक्त यज्ञ तप मंत्रानुष्ठान आदिसे देवतायोंका आराधन रूप आधिदैविक धर्मका आचरण करते हैं सो तिसके परिपक्व होनेपर मरणेके अनंतर जहां इन्द्रराजा है और जहां नानाप्रकारके देवतायोंके समूह निवास करते हैं और जो

नंदनवन आदि दिव्य सुंदर बगीचोंकरके शोभायमान है ऐसा जो स्वर्गलोक है तिसको प्राप्त होते हैं और तहां सो अपने धर्मसंचयके अनुसार दीर्घकालपर्यंत स्वर्गके सुखको भोगकरके पीछे काल पायकर पुण्यके क्षीण होनेसे फिर इस मनुष्यलोकमे आयकर धनवान और पवित्र लोकोंके घरमें जन्म लेते हैं इति ॥ ९ ॥

यथासंचयं चाधिभौतिकाः ॥ १० ॥

ये तु भूतहितात्मकमाधिभौतिकधर्ममनुतिष्ठंति ते यथासंचयं परलोकगतिं लभंते यादृशं येन जीवहित-मर्जितं भवति तदनुसारेणैव तस्य गतिर्भवति सम्य-गुत्तमक्रमेण भूतहितकारिणः स्वर्गे गमनं भवति मध्य-मक्रमस्यांतरिक्षलोके ज्योतिश्चक्रे निवासो जायते हीन-क्रमस्य त्वस्मिन्नेव लोके श्रीमतां शुचीनां सदनेषु जननं जायते सर्वेऽप्येते किलाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौति-कधर्मनिरताः सकामा एवोक्तक्रमेण स्वर्गादिलोकं गच्छंति निष्कामास्त्वंतःकरणशुद्धिपूर्वकं तत्त्वज्ञानम-वाप्य कैवल्यमोक्षं प्रयांति पूर्वमुक्तस्याप्याध्यात्मिका-दिधर्मफलस्यपुनरत्रनिरूपणं परलोकगतिप्रदर्शनार्थ-मिति बोद्धव्यम् ॥ १० ॥

यथा संचयं चाधिभौतिकाः ॥ तथा जो पुरुष पूर्वोक्त जीवहितरूप आधिभौतिक धर्मका आचरण करते हैं सो अपने धर्मसंचयके अनुसारहि परलोकमें गतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् जिन पुरुषोंका जितना जीवहितरूप धर्म-संचय किया होवे है तिनकी तिसीके अनुसार गति होवे है तिनमे जो पूर्वोक्त प्रकारसे पूर्णरीतिसे जीवहितधर्मका आचरण करते हैं तिनको स्वर्गलोककी प्राप्ति होवे है और जो मध्यमरीतिसे जीवहितधर्मका आचरण करते हैं सो अंतरिक्षलोक तारागणमें जायकर निवास करते हैं और जो कनिष्ठरीतिसे थोडा जीवहित करते हैं तिनका फिर इसलोकमेहि धनवान पवित्र कुलवालोंके घरमे जन्म होता है सो यह आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक इन तीनों धर्मोंवाले जो सकाम होवें तोहि यह उक्तरीतिसे ब्रह्मलोक आदि लोकोंमे जाते हैं और जो यह सब निष्काम केवल मुमुक्षु होवें तो अंतःकरणकी शुद्धिसे तत्त्वज्ञानको प्राप्त होकर कैवल्यमोक्षको प्राप्त होते हैं यद्यपि आध्यात्मिकादिधर्मका पीछे फल कथन कर आये हैं परंतु परलोकगतिके दिखानेके लिये यहां फिर तिसका निरूपण किया है सो जानना चहिये इति ॥ १० ॥

योयमाध्यात्मिकादिधर्मचारिणां परलोकगतिप्रकारो निरूपितः सतु जीवात्मनो देहात्पृथक्त्वे सत्येव संगच्छते पृथक्त्वं च जीवस्य विवादास्पदमित्यत्र तन्निर्णयं दर्शयति ।

जीवपृथक्त्वं साक्षित्वात् ॥ ११ ॥

जीवात्मनोऽस्मात्पांचभौतिकशरीरात् पृथक्त्वमवगंतव्यं कुतः साक्षित्वात् यो हि यस्य साक्षी द्रष्टा भवति स तस्माद्भिन्नो भवति यथा घटद्रष्टा घटाद्भिन्नो भवत्येवं कृशमिदं स्थूलं वा मम कलेवरं गौरवर्णं लंबाकृति ह्रस्वं वेत्येवमिदं तथा निर्दिश्यमानात्कलेवराज्जीवस्य पृथक्त्वमनुभूयते नहि द्रष्टृदृश्ययोरेकत्वं कचिद्भवितुमर्हतीत्यतो देहाज्जीवस्य भिन्नत्वमेवावसीयते ११

जो यह आध्यात्मिक आदिधर्मके आचरणकरनेवालोंकी परलोकगतिका निरूपण किया है सो तो जीवात्माके इस देहसे भिन्न होनेपरहि बनसके हैं और जीवात्मा इस देहसे भिन्न है कि नहि इसवार्तामे संशय होनेपर अब तिसका निर्णय कथन करे हैं (जीवपृथक्त्वं साक्षित्वात् ॥ इस पांचभौतिक शरीरसे जीवात्माको भिन्न जानना चहिये क्योंकि जो जिस वस्तुका द्रष्टा वा साक्षी

होवे है सो तिस वस्तुसे भिन्न होवे है जैसै घडेके देखने-वाला पुरुष घडेसे भिन्न होवे है तैसेहि यह मेरा शरीर पतला है वा मोटा है गौरवर्ण है लंबा है वा छोटा है इसप्रकार भिन्न प्रतीति होनेसे शरीरसे जीवात्मा भिन्न अनुभवमें आता है क्योंकि देखनेवाला और दृश्यपदार्थ यह दोनों एकरूप नहि होसकते हैं यातें जीवात्माको शरीरसे पृथक्हि जानना चहिये इति ॥ ११ ॥

प्रवेशनिर्गमाभ्याम् ॥ १२ ॥

'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथाक्षुरः क्षुरधानेऽवहित' इति छांदोग्यबृहदारण्यकोपनिषद्वचनानुसारेण जीवस्य शरीरे प्रवेशो जायते तथा 'एतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य' इति बृहदारण्यकवचनानुसारेणच मरणसमये जीवस्य शरीराद्बहिर्निर्गमनं भवत्यतः प्रवेशनिर्गमाभ्यां जीवस्य शरीरात्पृथक्त्वमवसीयते यथा पुरुषो गृहं प्रविशन्निर्गच्छन् वा न गृहरूपो भवत्येवं जीवोपि शरीरात्पृथगेवावगंतव्य इति ॥ १२ ॥

प्रवेशनिर्गमाभ्याम् ॥ (ईश्वरने विचार किया कि इस जीवरूपसे प्रवेशकरके नामरूपका विस्तार करूं, सो यह यहां शरीरमें सिरसे लेकर नखपर्यंत प्रविष्ट हूया है जैसे मियानमें उस्तरा प्रविष्ट होता है इति) इस छांदोग्य और बृहदारण्यक उपनिषत्के वचनके अनुसार जीवात्माका शरीरमें प्रवेश सिद्ध होवे है तथा (मरणकालमें इस पुरुषके हृदयमें प्रकाश होवे है तिससे जीवात्मा नेत्रोंसे वा मस्तकसे अथवा शरीरके दूसरे अंगोंसे बाहिर निकल जाता है इति) इस बृहदारण्यक उपनिषत्के वचनके अनुसार मरणकालमें जीवका शरीरसे बाहिर निकलना सिद्ध होवे है जैसे पुरुष घरमें प्रवेशकरने और निर्गमनकरनेसे घरसे भिन्न होता है तैसेहि जीवात्माकोभी शरीरसे भिन्न निश्चयकरना योग्य है इति ॥ १२ ॥

अनाशित्वाभिधानात् ॥ १३ ॥

'अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' 'अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इत्यादि श्रुतिस्मृतिवचनान्यात्मनोऽविनाशित्वं प्रतिपादयंति शरीरस्य च क्षणभंगुरत्वाद्विनाशित्वं प्रत्यक्षमेवातो

विनाशिनो देहादविनाशिनो जीवस्य भिन्नत्वं युक्त-मेव ॥ १३ ॥

अनाशित्वाभिधानात् ॥ (अरे मैत्रेयि यह आत्मा विनाश धर्मसे रहित अविनाशी है जीवसे रहित हूया शरीरहि मरता है जीव नहि मरता है यह आत्मा अज नित्य शाश्वत और पुरातन है शरीरका नाश होनेसे इसका नाश नहि होवे है इति) इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंके वचन आत्माको अविनाशी प्रतिपादन करते हैं और शरीर तो क्षणभंगुर होनेसे प्रत्यक्षहि नाशवान् है यातें विनाश-वान् शरीरसे अविनाशी आत्माका भिन्नपणा युक्तहि है इति ॥ १३ ॥

प्रश्नोत्तराभ्यामवधारणात् ॥ १४ ॥

कठोपनिषदि यमनचिकेतसोरुपाख्यानं वर्त्तते तत्र 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' इति मरणानंतरं जीवसद्भावविषये नचिकेतसः प्रश्नोस्ति 'हंत त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनं यथाच मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम योनिमन्ये प्रपद्यंते शरीरत्वाय देहिनः स्थाणुमन्येनु संयंति यथा कर्म यथा श्रुत'मिति मरणानंतरमन्यशरीरप्राप्तिर्जी-

वस्य भवतीति यमस्योत्तरं वर्त्तते एवं प्रश्नोत्तराभ्यां जीवस्य पृथक्त्वनिर्धारणादपि तस्य शरीराद्भिन्नत्वमवसेयम् ॥ १४ ॥

प्रश्नोत्तराभ्यामवधारणात् ॥ कठउपनिषत्में यमराजा और नचिकेताका इतिहास लिखा है इसमें नचिकेताने प्रश्न किया है कि (मनुष्यके मरणेके पीछे जो यह विचार होता है कोई कहते हैं जीवात्मा रहता है कोई कहते हैं कुछ नहि रहता है इसका क्या निर्णय है) और तिसपर यमराजाका यह उत्तर लिखा है। हे नचिकेता तुझको यह गुह्य सनातन वेदकी वार्ता कहताहुं कि जैसे यह मरणेके पीछे जीवात्मा रहता है मरणेके पीछे दूसरा शरीर धारण करनेको अपने कर्म और बुद्धिके अनुसार कोई जीवतो माताके गर्भमें जाकर जन्मलेते हैं और कोई जीव वृक्ष लता आदिक होते हैं इति) इस प्रश्न और उत्तरद्वाराभी जीवका देहसे पृथक्पणाहि निश्चय होवे है इति ॥ १४ ॥

योगिनां परकायप्रवेशाच्च ॥ १५ ॥

दीर्घकालमष्टांगयोगाभ्यासपाटवेन विजितप्राणपवनायोगिनो रेचकप्राणायामप्रयोगेन शरीराद्बहिर्धार-

णाक्रमेण च स्वेच्छया स्वशरीरं विहाय परकायं प्रविशं-ति तथाचोक्तं योगशास्त्रे (बंधकारणशैथिल्यात्प्रचा-रसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः) योगवासिष्ठेपि 'मुखाद्बहिर्द्वादशांते रेचकाभ्यासयुक्तितः प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरी'मिति प्रसिद्धं च लोके म-त्स्येन्द्रादियोगिनां परकायप्रवेशकरणं यदि जीवः शरी-राद्भिन्नो न भवेत् कथमेकदेहमपहायान्यं प्रविशेदतो जीवस्य शरीरात्पृथक्त्वमेव निश्चेयं भगवद्गीतायामपि श्रीकृष्णवाक्यं 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-न्यानि संयाति नवानि देही'ति तस्मादिहोपार्जितस्य धर्मस्य फलं भोक्तुं जीवस्य स्वर्गादिलोकेषु गमनं युक्तमेव ॥ १५ ॥

योगिनां परकायप्रवेशाच्च ॥ तथा दीर्घकालपर्यंत अष्टां-गयोगके अभ्यासकरके प्राणको अपने वश करनेसे रेच-कप्राणायामद्वारा बाहिर धारणाकरके योगीलोक इच्छा-नुसार अपने-शरीरको छोडकरके दूसरे शरीरमें प्रवेश करजाते हैं इससेभी शरीरसे जीवात्मा भिन्न सिद्ध होवे है तथा योगशास्त्रमें पतंजलिमुनिने लिखा है (योगा-

भ्याससे कर्मबंधनके शिथिल होनेसे और मनकी गतिके जाननेसे योगीलोक परकायामें प्रवेश करजाते हैं इति) तथा योगवासिष्ठमेंभी लिखा है (मुखसे वाहिर वारां अंगुलस्थानपर रेचकप्राणायामकरके प्राणको दीर्घकालपर्यंत स्थिर करनेसे योगी परकायामें प्रवेश करजाता है इति) और यह वार्ता लोकोंमेंभी प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्र योगी संकलद्वीपके राजाके शरीरमें प्रवेश करताभया शंकराचार्य दक्षिणके राजाके शरीरमें प्रवेश करताभया इत्यादि और भी योगियोंकी वार्ता सुननेमें आती हैं जो जीवात्मा शरीरसें जुदा नहि होवे तो फिर योगी एकदेहको छोडकर दूसरी देहमें कैसे प्रवेश करसके इसलिये जीवको शरीरसे जुदाहि निश्चय करना योग्य है तथा गीतामें श्रीकृष्णजीने भी कहा है (हे अर्जुन जैसे पुरुष पुराणे वस्त्रोंको छोडकर फिर नवीन वस्त्र पहर लेता है तैसेहि जीवात्मा पहले रोगादिसे जीर्ण हूये शरीरको छोडकर दूसरे नवीन शरीरको धारण करता है इति) यातें यह वार्ता सिद्ध हूईकि इसलोकमें उपार्जन कियाहूया धर्मका फल भोगनेको जीवात्माका स्वर्गादि लोकोंमें जाना ठीक है इति ॥ १५ ॥

इत्थं जीवस्य देहात्पृथक्त्वमभिधायेदानीं तस्य स्वरूपं वर्णयति

कार्योपाधिचैतन्यं जीवः ॥ १६ ॥

यदेव ब्रह्मणश्चैतन्यं प्रकृत्यात्मककारणोपाधिसदीश्वरसंज्ञको भवति तदेवाविद्ययायुक्तं प्रकृतिकार्योपाधिसज्जीवत्वमापद्यते प्रकृतेर्यानि मनःप्रमुखानि कार्याणि तैरुपहितं चैतन्यं जीवस्य स्वरूपं विज्ञेयम् ॥ १६ ॥

इसप्रकार जीवका देहसे भिन्नपणा निरूपणकरके अब तिसके स्वरूपका वर्णन करे हैं (कार्योपाधिचैतन्यं जीवः॥ जो ब्रह्मका चैतन्य प्रकृतिरूप कारणउपाधि युक्तहुया ईश्वर कहलाता है सोई चैतन्य अविद्याकरके युक्तभया प्रकृतिके कार्यरूप उपाधिवाला होनेसे जीवभावको प्राप्त होवे है अर्थात् प्रकृतिके जो मन बुद्धि आदि कार्य हैं तिनके संयुक्त जो ब्रह्मका चैतन्य है सो जीवका स्वरूप जानना चहिये इति ॥ १६ ॥

कार्यस्वरूपं वर्णयति

षोडशविधं कार्यम् ॥ १७ ॥

वागादीनि पंच कर्मेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पंच ज्ञाने-

न्द्रियाणि प्राणादयः पंच प्राणा मनश्चेति षोडशसं-
ख्याकं प्रकृतेः कार्यं जीवस्योपाधिर्भोगाधिष्ठानं वर्त्तते
इदमेव च जीवस्य सूक्ष्मशरीरमाहुरनेनैवहि संयुक्तं
चैतन्यं जीवपदवाच्यं भवति संसरति चानेन संसारे
यावत्कैवल्यं कैवल्याधिकारं प्राप्तंतु जीवचैतन्यं नष्टा-
विद्यं कार्योपाधिं विहाय स्वरूपेणावतिष्ठत इति ॥१७॥

अब प्रकृतिके कार्योंका वर्णन करे हैं (षोडशविधं
कार्यम् ॥ वाणी हाथ पैर गुदा लिंग यह पांच कर्मइ-
न्द्रिय और श्रोत्र त्वचा नेत्र जिह्वा नासिका यह पांच
ज्ञानइन्द्रिय प्राण अपान व्यान समान उदान यह पांच
प्राण और एक मन यह सोलां प्रकृतिके कार्य जीवकी
उपाधि और जीवके भोग भोगनेका आश्रय हैं अर्थात्
इनके द्वाराहि जीवात्मा बाहिरके भोगोंको भोगता है सो
इन मिलेहूये सोलां तत्त्वोंकोहि जीवका सूक्ष्म शरीर कहते
हैं इस सूक्ष्मशरीरसे मिलाहुयाहि ब्रह्मका चैतन्य जीव
नामवाला होवे है और इसीके साथ जन्मजन्मांतरोंमें
भ्रमण करता है जबतक कैवल्य मोक्ष नहि होवे और
जब यह जीवात्मा तत्त्वज्ञानसे कैवल्यमोक्षका अधि-
कारी होवे है तो तब अविद्याके नाश होंनेसे कार्य उपा-

धिको छोडकर अपने स्वरूपभूत ब्रह्मरूपसे स्थित होवे है इति ॥ १७ ॥

इत्थं जीवस्य स्वरूपमभिधायेदानीं तस्येश्वरतंत्रत्वमावेदयति

परेशांशत्वात्तदात्मजत्वम् ॥ १८ ॥

'मायांतु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरं तस्यावयवभूतैस्तु व्यासं सर्वमिदं जगत्' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रमाणाज्जीवस्येश्वरांशभूतत्वादीश्वरात्मजत्वं बोद्धव्यं परमेश्वरस्य जीवः पुत्रोपम इत्यर्थः यथा पुत्रः पितुरधीनो भवत्येवं जीवस्यापीश्वराधीनत्वमस्तीति विज्ञेयम् १८

इसप्रकार जीवका स्वरूप कथनकरके अब तिसका ईश्वरके अधीनपणा दिखलावे हैं (परेशांशत्वात्तदात्मजत्वम् ॥ श्वेताश्वतरउपनिषत्में लिखा है कि (मायाको प्रकृति जानना चहिये और मायाके अधिष्ठाताको ईश्वर जानना चहिये तिस ईश्वरके अंशरूप जीवोंकरके यह सर्व जगत् पूर्ण होरहा है इति) तथा भगवत्गीतामें भी लिखा है (इस जीवसृष्टिमें मेराहि सनातन अंश जीवरूप बनाहूया है इति) इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंके प्रमाणसे

जीवको ईश्वरका अंशरूप होनेसे ईश्वरका पुत्ररूप जानना चहिये अर्थात् जीव ईश्वरका पुत्रतुल्य है सो जैसे पुत्र पिताके अधीन होवे है तैसेहि जीवभी सदा ईश्वरके अधीनहि रहता है इति ॥ १८ ॥

अभेदेपि पृथक्त्वमुपाधिभेदात् ॥ १९ ॥

यद्यपि स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन रूपेण जीवेश्वरयोः परस्परं मनागपि भेदो न विद्यते परंतु कार्यकारणोपाधिभेदात्तयोः पृथक्त्वं संजायते कारणोपाधित्वादीश्वरस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिमत्त्वं जीवस्य तु कार्योपाधिवशादल्पज्ञत्वाल्पशक्तित्वादिकं संभवत्यतः स्वरूपेणाभिन्नोपि जीवः परेशात्पृथगस्तीति बोद्धव्यम्

अभेदेऽपि पृथक्त्वमुपाधिभेदात् ॥ यद्यपि अपने चैतन्यस्वरूपसे तो जीव और ईश्वर इन दोनोंमें आपुसमे कुछभी भेद नहि है परंतु कार्य और कारण उपाधिके भेदसे तिनका भेद होवे है प्रकृतिरूप कारण उपाधिवाला होनेसे ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् है और सूक्ष्मशरीररूप कार्य उपाधिवाला होनेसे जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान् है अर्थात् चैतन्यस्वरूपसे ईश्वरसे

जीव अभिन्न होनेपरभी उपाधिभेदसे ईश्वरसे जीव पृथक् जानना चहिये इति ॥ १९ ॥

पृथक्त्वेनिदर्शनमाह

घटाकाशवत् ॥ २० ॥

यथा घटाभ्यंतरितआकाशः पूर्णाकाशाद्घटोपाधिवशात्पृथग्भवति सम्यगानद्धमुखेनघटेन समं सएवच देशांतरं नेतुं शक्यते तद्वज्जीवोप्यंतःकरणावच्छिन्नः परेशात्पृथग्भवति कर्मबंधनैरानद्धश्चांतःकरणेनसह जन्मांतरं प्रयाति तथोक्तं भारतमोक्षधर्मे 'कर्मणा बद्ध्यते पूर्वं कर्मणा चोपलभ्यते कर्मणा नीयतेन्यत्र स्वकृतेन बलीयसेति ॥ २० ॥

ईश्वरसे जीवके पृथक्पणेमे दृष्टांत कहते हैं (घटाकाशवत् ॥ जैसे घटमें आयाहूया आकाश घटकी उपाधिसे पूर्ण आकाशसे भिन्न होजाता है और भलीप्रकार मुख वंद करनेसे सोई आकाश घटके साथ दूसरी जगा चला जाता है तैसेहि जीवभी अंतःकरणसे मिला हूया ईश्वरसे पृथक् होवे है और कर्मरूप वंधनसे वांधा हूया दूसरे जन्मजन्मांतरोंको प्राप्त होवे है तथा महाभारतके मोक्षधर्मपर्वमें लिखा है (यह जीव अपने बलवान् कर्मों-

करके बंधायमान होवे है और कर्मोंकरके जन्म लेता है और कर्मोंकरके दूरसी जगा जाता है इति ॥ २० ॥

दृष्टांतांतरमाह

दीपशिखावद्वा ॥ २१ ॥

यथाच दीपशिखायामारूढो वह्निः सर्वव्यापकादग्नेः पृथग्भवति सएव च दीपेन सह स्थानांतरमुपनीयते तद्वदंतःकरणोपहितस्य जीवात्मनः परेशात्पृथग्भावो देशांतरगमनं च वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

इस बातमें अब दूसरा दृष्टांत कहते हैं (दीपशिखावद्वा ॥ जैसे दीपककी वत्तीपर चडाहूया अग्नि सर्वव्यापक अग्निसे पृथक् होवे है और सोई अग्नि दीपकके साथ दूसरी जगा चलाजावे है तैसेहि अंतःकरणसे मिले हूये जीवका ईश्वरसे पृथक्पणा और जन्मांतरोंमें गमनपणा समझना चहिये इति ॥ २१ ॥

परमात्मनो निरवयवत्वात्कथं दीपशिखावत्पृथक्त्वमिति चेत्

विशेषरूपत्वात्तुतद्भावः ॥ २२ ॥

समानविशेषरूपेणद्विविधंहि ब्रह्मणो रूपं भवति

तत्र सर्वत्रव्यापकमव्यक्तंनिरुपाधिसमानमित्यभिधी-
यते तथांतःकरणोपाधियुक्तं परिच्छिन्नं विशेषरूपमि-
त्युच्यते तत्र समानरूपस्य व्यापकत्वान्निरुपाधित्वाच्च
गमनादिकं न संभवति द्वितीयस्यतुविशेषरूपत्वादुपा-
धिवशाद्ब्रह्मणः पृथक्त्वं घटाकाशदीपशिखावत्पर-
लोकगमनादिकं च संगच्छतेलघुमहत्स्थानेषु दीपप्रभे-
वच्च जीवात्मनोंतःकरणद्वारा लघुमहच्छरीरेषु कर्मव-
शात्संकोचविकाशौ भवत इति वेदितव्यम् ॥ २२ ॥

प्रश्न, परमात्मा तो निरवयव वस्तु है सो दीपशि-
खाकी न्यांई कैसे पृथक् होसकता है उत्तर, विशेषरूप-
त्वात्तुतद्भावः, समान और विशेष इस भेदसे ब्रह्मका दो
प्रकारका स्वरूप है तिनमें सर्व व्यापक अव्यक्त निरु-
पाधि जो ब्रह्मका स्वरूप है सो समान कहिये है और
अंतःकरण उपाधिकरके युक्त जो परिच्छिन्न स्वरूप है
सो विशेष कहिये है तिनमें समान रूपका सर्व व्यापक
और निरुपाधि होनेसे देशांतरोंमें गमन आदि नहि
होसके है और दूसरेका तो विशेषरूप होनेसे उपाधिके
वशसे ब्रह्मसे पृथक्पणा और घटाकाशदीपशिखाकी न्यांई
परलोकगमन संभवे है तथा जैसे छोटे वडे स्थानमें दीप-
कके प्रकाशका संकोचविकाश होवे है तैसेहि जीवात्मा-

काभी अंतःकरणद्वारा कर्मोंके वशसे छोटे वडे शरीर धारण करनेमे संकोचविकाश होवे है ऐसा जानना चहिये इति ॥ २२ ॥

एवं जीवस्येश्वरात्पृथक्त्वमुक्त्वाथेदानीं तदर्थमीश्वरस्य प्रवृत्तिं दर्शयति

विश्वारंभस्तद्विलासार्थम् ॥ २३ ॥

यथा पिता पुत्राणां विलासार्थं हर्म्यशय्योपवनतडागवनितादिपदार्थजातस्य संग्रहं कुरुते तद्वदीश्वरोपि स्वतनयोपमानां जीवानां विलासार्थमस्य सर्वविधभोगसामग्रीसंयुक्तस्य जगतो निर्माणं कुरुते नतु तस्य तत्रात्मीयं किमपि प्रयोजनमस्ति नित्यतृप्तत्वात् सर्वमिदं ब्रह्मांडं नानाभुवनसमन्वितं विविधविचित्रजीवविलासमनोहरं क्रीडामयं निर्माय स्वयमसंगः सन्नवलोकयति तथोक्तं ब्रह्ममीमांसायां 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति॥ २३ ॥

इसप्रकार जीवका ईश्वराधीनपणा निरूपण करके अब तिसके निमित्त ईश्वरकी प्रवृत्ति दिखलावे हैं। विश्वारंभस्तद्विलासार्थम् ॥ सो जैसे पिता अपने पुत्रोंके विहारके लिये मकान शय्या वाग तालाव आदि पदा-

थौंको वनाता है तैसेहि ईश्वरभी अपने पुत्ररूप जीवोंके विलासके निमित्त सर्व प्रकारकी भोगोंकी सामग्रीसे भरे-हूये इस जगत्को उत्पन्न करता है उसमें ईश्वरका अपना भोगविलासका कुछ प्रयोजन नहि है क्योंकि ईश्वरतो अपने स्वरूपमें सदा तृप्त रहता है और अनेक भुवनोंकरके युक्त नानाप्रकारके विचित्र जीवोंके विलाससे मनोहर क्रीडामय इस सर्व ब्रह्मांडको निर्माण करके आप असंग हूया देखता है तथा ब्रह्ममीमांसामें व्यासजीनेभी लिखा है (जैसे राजा आदि धनी लोक सर्व पदार्थोंसें नित्य तृप्त हूयेभी केवल लीलासे शिकार आदि क्रीडा करते हैं तैसेहि ईश्वर नित्य तृप्त हूयाभी केवल लीलाके लिये जगत्की रचना करता है इति ॥ २३ ॥

दुःखमितिचेन्न सुखार्थत्वात् ॥ २४ ॥

जनिमृत्युजरादिदुःखमयंहि किलेदं जगत् तत्क-थमस्य जीवानां विलासहेतुत्वमुपपद्यते इति चेन्नैवं वाच्यं कुतः सुखार्थत्वात् सुखार्थाहि खलु परमेश्व-रस्य सृष्टिः ! नहि जीवैः सहेश्वरस्य वैरं विद्यते येन तदर्थं दुःखमयं जगदारभेत जीवकरुणयाप्रेरितः पर-मेश्वरः सर्व सुखमयमेव प्रपंचं निर्मिमीते जनिमृत्या-

दिदुःखंतु कादाचित्कत्वान्न जगतो दुःखमयत्वापादकं संभवतीति ॥ २४ ॥

दुःखमिति चेन्न सुखार्थत्वात् ॥ यह जगत् तो जन्म मृत्यु जरा आदिदुःखों करके युक्त है सो जीवोंके विलासका हेतु कैसे हो सकता है इस जगामें ऐसी शंका नहि करनी चहिये क्योंकि ईश्वरने यह जगत् जीवोंके सुखके लियेहि वनाया है ईश्वरका कुछ जीवोंके साथ वैर नहि था जो उनकेलिये दुःखरूप जगत् वनाता किंतु जीवोंपर दया करके परमेश्वर सभी सुखरूप जगत्को रचता है और जन्ममरणादि दुःखतो कवी होता है हमेशां नहि रहता इसलिये उससे सारा जगत् दुःखरूप सिद्ध नहि होसकता यातें ईश्वर जीवोंके विलासके लियेहि जगत्का निर्माण करता है ऐसा जानना चहिये इति ॥ २४ ॥

कुत एतद्विज्ञायते

विषयेन्द्रियनिर्माणात् ॥ २५ ॥

शब्दस्पर्शरूपरसगंधात्मकाः पंच विषयास्तेषां च शतशोऽवांतरभेदाः श्रोत्रत्वङ्नेत्रजिह्वाघ्राणाख्यानि च शब्दादीनां ग्राहकाणीन्द्रियाणि तेषांच भोगायतनं शरीरमित्यादिविलाससामग्रीनिर्माणाज्जीवानां

सुखार्थमेवेदमीश्वरस्य जगन्निर्माणकरणमवसीयते २५

प्रश्न । जीवोंके सुखकेलिये जगत्का निर्माण होवे है यह वार्ता कैसे जाननेमे आवे । उत्तर, विषयेन्द्रियनिर्माणात् ॥ शब्द स्पर्श रूप रस गंध यह पांच विषय और इन एक एकके हजारों भेद और श्रोत्र त्वचा नेत्र जिह्वा नासिका यह पांच इन्द्रियां तिन विषयोंके ग्रहण करनेवाली तथा तिनके भोग भोगनेका स्थान शरीर इत्यादि सर्व सामग्री जीवोंके सुखकेलिये ईश्वरने निर्माण करीहुई प्रसिद्ध है यातें ईश्वरका जगत्को निर्माण करना जीवोंके सुखके लियेहि है यह निश्चय होवे है इति ॥२५॥

आशिषो नित्यत्वाच्च ॥ २६ ॥

सदैवाहं जीवामि न कदापि मरणमियामितिसर्वेषांमनुष्यपशुपक्षिकीटादिजीवानामेवंविधाकिलात्माशीर्नित्यं वर्त्तते कोप्यात्मनो मरणेन देहाद्वियोगं नेच्छति यदि जगतो दुःखमयत्वं स्यात् तदा न क्षणमपि कोपि जीवितुमुत्सहेत तस्मादीश्वरेण जीवानां सुखभोगहेतोरेवास्य प्रपंचस्य निर्माणमकारीति वेदितव्यम् ॥ २६ ॥

आशिषो नित्यत्वाच्च ॥ सदाहि मैं जीता रहुं मैं कभी नहि मरुं इसप्रकारकी मनुष्य पशु पक्षि कीट आदि सर्व जीवोंको अपने जीनेकी अभिलाषा नित्य वनी रहती है कोईभी अपना मरणा नहि चाहता है जो यह जगत् दुःखरूप होता तो एक क्षणभरभी कोई जीनेकी इच्छा नहि करता इसलिये यह जगत् ईश्वरने जीवोंके सुखके, लियेहि निर्माण किया है ऐसा जानना योग्य है इति २६

तत्सममापिपीलिकायाः ॥ २७ ॥

तत्सुखं चतुराननमारभ्य पिपीलिकापर्यंतं सर्वेषां जीवानां सममेवास्तीति विज्ञेयं 'आनंदो ब्रह्म' 'विज्ञानमानंदं ब्रह्म' 'कं ब्रह्म' 'एष ह्येवानंदयाती'त्यादिश्रुतिवचनप्रसिद्धस्यानंदस्वरूपस्य परमात्मनः सर्वभूतेषु समानतयानुस्यूतत्वादिति ॥ २७ ॥

तत्सममापिपीलिकायाः ॥ यह जो जगत्का सुख है सो ब्रह्मासे लेकर कीडीपर्यंत सब जीवोंको वरावर है ऐसा जानना चहिये क्योंकि (आनंद ब्रह्म है ज्ञान और आनंदरूप ब्रह्म है सुखब्रह्म है येहि सबको आनंद देता है इति) इत्यादि श्रुतियोंके वचनोंमें प्रसिद्ध जो परमा-

त्माका स्वरूपभूत आनंद है सो सर्व भूतप्राणियोंमे समानरूपसे व्यापक है इति ॥ २७ ॥

न साधनभेदात्तद्भेदस्तुष्टेस्तुल्यत्वात् ॥२८॥

यद्यपि देवमनुष्यपशुपक्ष्यादीनां सुखसाधनेषु पानभोजनशयनादिषु भेदो वर्त्तते तथापि साधनभेदेन सुखे भेदो न मंतव्यः कुतः सर्वेषां प्राणिनां स्वस्वशरीरानुकूलतया तत्तत्साधनैरेव तुष्टिर्जायते यथा महेन्द्रस्य शच्यालिंगनेन हर्षो भवति तथैव शूकरस्य शूकरीस्पर्शेनाह्लादो जायते यथा च देवानाममृतपानेन तृप्तिर्भवति मनुष्याणां च मिष्टान्नाशनेन तद्वदेव पशुपक्ष्यादीनां हरिततृणपत्रफलाद्यशनेन तृप्तिरुपजायते तस्मात्सर्वेषां जीवानां सममेव सुखमस्तीति निश्चेयम् ॥ २८ ॥

न साधनभेदात्तद्भेदस्तुष्टेस्तुल्यत्वात् ॥ यद्यपि देवता मनुष्य पशु पक्षि आदि जीवोंके सुखके साधन खान पान शय्या आदि पदार्थोंमें तथा छोटेबडे शरीर इन्द्रियोंमें भेद देखनेमे आवे है तथापि तिनके साधनोंके भेदसें सुखमें भेद नहि समझना चहिये क्योंकि सब जीवोंको अपने अपने शरीरके अनुसार अपने अपने

साधनोंसे बराबरहि तुष्टि होवे है जैसे देवतायोंके पति इन्द्रको अपनी स्त्री शचीके आलिंगन करनेसे जो सुख होवे है तैसेहि शूकरको अपनी शूकरीके आलिंगन करनेसे सुखका अनुभव होवे है तथा जैसे देवतायोंको अमृतके पानसे और मनुष्योंको मिष्टान्न भक्षणसे जो तृप्ति होवे है सोई पशु पक्षियोंको हरेघास पत्र फल आदिक भोजनसे तृप्ति होवे है यातें सब जीवोंको बराबरहि सुख है ऐसा निश्चय करणा चाहिये इति ॥ २८ ॥

सुखार्थं निर्मिते संसारे किमर्थं पुनरीश्वरः पापकारिभ्योजीवेभ्योनरकादिदंडं ददातीति चेत्

दंडविधानं तु व्यवस्थार्थम् ॥ २९ ॥

तु शब्देन शंकां व्यावर्त्तयति समानतया सुखमयत्वेपि जगतस्तत्र कर्मणः सुखदुःखहेतुत्वमीश्वरेण संकेतितं ततो ये केचिदीश्वराज्ञातिक्रमेण पापाचरणं कुर्वंति ते रोगनरकादिदंडभाजो भवंति यदि पापाचारेषु दंडनिपातो न क्रियेत तदा सर्वं भवेदव्यवस्थितं जगत् सर्वेपि निर्भयाः परस्परं दुःखयंतो विनश्येयुरतो व्यवहारव्यवस्थार्थं लोके राजादिद्वारा परलोके यमादिद्वारा च प्राणिषु दंडो निपात्यत इति ॥ २९ ॥

प्रश्न, जो यह जगत् जीवोंके सुखकेलिये बनाया है तो फिर पापी जीवोंको ईश्वर रोग दरिद्र और नरक आदि दंड क्यों देता है उत्तर, दंडविधानं तु व्यवस्थार्थम् ॥ यद्यपि समान रीतिसे यह जगत् सुखरूपहि है तथापि ईश्वरने कर्मोंके अधीन सुखदुःखकी प्राप्तिका नियम कियाहूया है तिनमें जो जो जीव ईश्वरकी वेदशास्त्ररूप आज्ञाको उल्लंघन करके पापकर्मोंको आचरण करते हैं सो रोग द्ररिद्र नरक आदि दंडके भागी होते हैं जो ईश्वर पाप करनेवालोंको दंड नहि देवे तो संपूर्ण जगत्की व्यवस्था विगड जावे और सभी लोक निर्भय होकर परस्पर दुःख उपद्रव करनेसे नाशको प्राप्त हो जावें इसलिये व्यवहारकी व्यवस्थाकेलिये इसलोकमें राजा आदिकेद्वारा और परलोकमें यमराजाआदिके द्वारा ईश्वर प्रमादी जीवोंको दंड देता है इति ॥ २९ ॥

दंडस्यापि परिणामे सुखहेतुत्वं दर्शयति

प्रायश्चित्ताचरणवत् ॥ ३० ॥

यथा प्रमादात्पापकर्मणि जाते परलोकसुखाभिलाषिणो बुधास्तज्जनितदुष्टादृष्टपरिहारायात्रैव प्रायश्चित्ताचरणं कुर्वंति तेन शुद्धतां गत्वा परलोके केवलं

सुकृतफलं भुंजते तद्वदेव जीवेषु रोगादिदंडविधानं द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

ईश्वरके दंडकाभी परिणाममे सुखहेतुपणा कथन करे हैं (प्रायश्चित्ताचरणवत् ॥ जैसे कबी प्रमादसे पापकर्म होनेपर परलोकमें कल्याणकी इच्छावाले विवेकी पुरुष तिसके बुरेफलके दूर करनेके लिये इसी लोकमें जप तप दान आदिरूप प्रायश्चित्तका आचरण करते हैं और तिससे शुद्ध हूये परलोकमें जाकर केवल पुण्यके फलको भोगतें हैं तैसेहि जीवोंमें दंडका विधान जानना चहिये अर्थात् पापी लोक प्रायश्चित्तरूपी दंड भोगकर शुद्ध हूये फिर केवल पुण्यके फलरूप सुखको भोगते हैं इति ॥३०॥

दृष्टांतांतरमाह

औषधसेवनवच्च ॥ ३१ ॥

यथा सेवनकाले कटुतिक्ताद्यौषधं प्रतिकूलमिवाभाति परिणामेच्च तद्रोगनिर्हरणेनानंदाय कल्पते तथैव दंडोपि भोगकाले प्रतिकूलं दृश्यते परंतु परिणामे पापापनोदनेन सुखहेतुतामापद्यते ततो दंडविधानमपीश्वरस्य जीवानां सुखकारणमस्तीति वेदितव्यं किंच मनुष्यलोके क्वचिद्दुःखदर्शनेन न जगतो दुःख-

मयत्वमनुमेयं संतिहि सत्त्वगुणप्रधानेषु स्वर्जनतपःस-
त्याद्यूर्ध्वलोकेषु कोटिशो वृंदारका दिव्यविमानारूढा
दिव्याप्सरोगणविलासिनो दीर्घायुषः पीयूषाशना
निर्जरसः सर्वतः सुखिन इति ॥ ३१ ॥

अब दूसरा दृष्टांत कहते हैं (औषधसेवनवच्च ॥
जैसे निंब चिरायता आदि कडवीकषेली औषधि लेने-
वकत प्रतिकूल मालूम पडती है परंतु सो परिणाममें
ज्वर आदि रोगोंको दूर करनेसे सुखरूप होवे है तैसेहि
दंडभी भोगकालमे प्रतिकूल प्रतीत होवे है परंतु सो
परिणाममे पापोंके दूर करनेसे सुखका हेतु होवे है इस-
लिये पापियोंको ईश्वरका दंड देनाभी जीवोंके सुखके
लिये जानना चहिये किंच मनुष्यलोकमें कहीं थोडे
जीवोंमे दुःख देखनेसे संपूर्ण जगत्‌को दुःखरूप नहि
समझना चहिये क्योंकि सत्त्वगुणप्रधान जो स्वर्ग जन
तप सत्य आदि ऊपरके लोक हैं तिनमें करोडों देवता
दिव्य विमानोंमे रहनेवाले दिव्य सुंदर अप्सरायोंसें
विलास करनेहारे कल्पपर्यंत दीर्घ उमरावाले अमृतके
भोजन करनेहारे रोग जरा मृत्यु आदिसे रहित सर्वप्र-
कारसे सुखी वसते हैं यातें ईश्वरने जीवोंके विलासके-

लियेहि जगत्का निर्माण किया है ऐसा जानना चहिये इति ॥ ३१ ॥

यद्येवं जीवानां सुखभोगार्थमेव जगतो निर्माणं भवति तदा किमर्थं शब्दादिविषयेष्वासक्तानां जनानां भवबंधनं जायते

प्रमादादेव बंधनम् ॥ ३२ ॥

नहि स्वभावतः शब्दादिविषया बंधनहेतवः। अपितु जीवः स्वकीयेन प्रमादेनैव हि भववंधनं प्राप्नोति प्रमादो हि बहिर्मुखत्वं सततं बाह्यविषयेषु प्रसक्तमतिर्न कदापि प्रत्यगात्मानमवलोकयति ततः स्वरूपज्ञानविस्मरणेन रागद्वेषादिसंसारदोषैरावलितोऽसौ जगति जननमरणात्मकं भवबंधनं प्राप्नोति ॥ ३२ ॥

प्रश्न। जो उक्तरीतिसे जीवोंके सुख भोगकेलियेहि जगत्का निर्माण होवे है तो फिर शब्द स्पर्श आदिविषयोंमे आसक्त पुरुषोंको भववंधनकी प्राप्ति क्यों होवे है उत्तर, प्रमादादेव बंधनम् ॥ यह शब्द स्पर्श आदि विषय स्वभावसे बंधनके हेतु नहि हैं किंतु जीव अपने प्रमादसेहि भवबंधनको प्राप्त होवे है प्रमाद नाम वहिर्मुखताका है सो सर्वदा काल बाह्यविषयोंमे आसक्त हूया

जीव कवीभी अपने अंतर आत्माको नहि देखता है इसलिये आत्मस्वरूके भूलनेसे राग द्वेष आदि संसारके दोषोंसे युक्त भया जगत्मे जन्ममरणरूप भववंधनको प्राप्त होवे है इति ॥ ३२ ॥

तद्राहित्ये जीवन्मुक्तत्वम् ॥ ३३ ॥

तस्य प्रमादस्याभावेतु जीवन्नेवायं मुक्तो भवति निखिलभोगसामग्रीसमन्विते गृहाश्रमे वसन्नपि प्रमा-द्हीनो न निबद्ध्यते यथा रामरघुजनकयुधिष्ठिरप्रभृ-तयो राज्ये स्थिता अपि न भववंधनमाययुः स-परिहाय विरक्तो वनं गतोपि प्रमादी न विमुच्य-यथा ऋष्यशृंगाग्नीध्रजडभरतादयो वननिवासिनोपि संसारबंधनमुपागताः । एवमन्वयव्यतिरेकेण प्रमाद-स्यैव बंधनकारित्वमवसेयम् ॥ ३३ ॥

तद्राहित्ये जीवन्मुक्तित्वम् ॥ जब यह जीव तिस प्रमादसे रहित होवे है तो जीताहूयाहि मुक्तस्वरूप होवे है अर्थात् सर्व भोगोंकी सामग्रीकरके युक्त गृहस्थाश्रममें रहनेपरभी सों वंधायमान नहि होवे है जैसे रामचंद्र रघुराजा जनक युधिष्ठिर आदि राजा लोक वडे राज्यमें रहतेहूयेभी भववंधनको नहि प्राप्त होते भये हैं और

प्रमादी पुरुष तो सर्वभोगसामग्रीको छोडकर वनमें जाने परभी मुक्तिको नहि प्राप्त होसकेहै जैसे शृंगीऋषि अग्नीध्र जडभरत आदि वनमे रहनेहारेभी संसारबंधनको प्राप्त होतेभयेहैं इसप्रकारसे अन्वयव्यतिरेकसे प्रमादकोहि भवबंधनका हेतु जानना चहिये इति ॥३३॥

कस्तर्हि प्रमादजन्मना भवबंधेन बद्धस्यास्य जीवस्य मुक्त्युपायः

धर्माचरणात् ॥ ३४ ॥

पूर्वोक्तस्याध्यात्मिकादिधर्मस्य सम्यक्तया दीर्घकालमखंडितं निषेवणेन पापात्मकमलनिर्हरणेन क्षारयोगेनेवांशुकस्यास्य पुरुषस्यांतःकरणस्य शुद्धिर्जायते ततो यथौषधयोगेनापगतनेत्रदोषस्य स्फुटं वस्तुदर्शनं भवत्येवमंतःकरणे शुद्धतामुपगते पुरुषस्य यथार्थावलोकनमुपजायते तेनास्थिमांसरक्तादि निचितं दुर्गंधभूयिष्ठं स्वशरीरं क्षणभंगुरत्वादिदोषं च विषयेषु पश्यँस्ततो विरज्यते विरक्तश्च निखिलं प्रवृत्तिजालं विहाय सतां समागमेनाध्यात्मविद्यामासाद्यैकांतवसनशीलः सततमात्मध्यानपरायणः कलेवरांते कैवल्यमधिगच्छतीति ॥ ३४ ॥

प्रश्न । प्रमादसे उत्पन्न हूये भवबंधनसे बंधेहूये जीवकी फिर मुक्तिका क्या उपाय है । उत्तर, धर्माचरणात् ॥ पूर्वोक्त आध्यात्मिक आधिदैविक आदि धर्मके दीर्घकालपर्यंत अखंडित आचरण करनेसे जैसे क्षारसे वस्त्रकी शुद्धि होवेहै तैसेहि सर्वपापोंके दूर होनेसे पुरुषके अंतःकरणकी शुद्धि होवेहै तो फिर जैसे अंजन आदि औषधिके लगानेसे नेत्रोंके तिमिर आदि दोष दूर होनेसे पदार्थोंका स्फुटदर्शन होवेहै तैसेहि अंतःकरणके शुद्ध होनेसे पुरुषको यथार्थ दृष्टि उत्पन्न होवेहै तो तिससें फिर अपने शरीरको हड्डी मांस रक्त आदिमलीन पदार्थोंसे भराहूया दुर्गंधयुक्त देखताहै और स्त्रीआदि विषयोंकोभी क्षणभंगुर आदि दोषयुक्त देखता हूया तिनसे वैराग्यको प्राप्त होवेहै और संसारसे विरक्त हूया सर्वप्रवृत्तिजालको छोडकर तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुषोंके समागमद्वारा अध्यात्मज्ञानको सीखकर सदा एकांतमे आत्मस्वरूपका ध्यान करताहूया देहके अंतमे कैवल्य मोक्षपदको प्राप्त होवेहै इति ॥ २४ ॥

किंच

ईश्वराराधनात् ॥ ३५ ॥

नहि जीवो धर्माचरणे स्वतंत्रोस्ति कः किल धर्म-संचयं नरो नेच्छति किंतु सांसारिकव्यवहारविक्षि-समनसो वनितादिविषयाकृष्टचेतसो रागद्वेषादिदो-षदूषितबुद्धयो नानाविधरोगादिविघ्नोपद्रुतकलेवरा जना न सम्यक्तया धर्मसंचयं कर्तुं शक्नुवंति अत-स्तेषां मोक्षप्रतिबंधकानां विघ्नानां निवृत्तिपूर्वकमाशु-धर्मसंचयार्थमीश्वराराधनं मुमुक्षुभिरवश्यं कर्त्तव्यं परमेश्वरप्रसादेनास्य जीवस्य सर्वे विघ्ना विनश्यंत्या-त्मसाक्षात्कारश्चास्य यथावत्प्रादुर्भवति ततोऽचिरेण संसारबंधनाद्विमुक्तः कैवल्यपदमधिगच्छति तथा-चोक्तं योगशास्त्रे 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोप्यंतरा-याभावश्चे'ति ॥ ३५ ॥

ईश्वराराधनात् ॥ पूर्वोक्त धर्मके आचरण करणेमें जीव स्वतंत्र नहिहै कौन ऐसा पुरुष है जो धर्मका संचय करना नहि चाहताहै किंतु संसारके व्यवहारोंसे विक्षिप्त चित्तवाले और स्त्रीआदिविषयोंमें फसेहूये और राग द्वेष आदि दोषोंकरके दूषित बुद्धिवाले तथा नाना

प्रकारके रोग आदि विघ्नोंकरके क्षीण शरीरवाले मनुष्य अपनी इच्छासे धर्मका संचय ठीकठीक करनेमें समर्थ नहि होसकते इसलिये मोक्षके प्रतिबंधक सर्व विघ्नोंकी निवृत्तिपूर्वक शीघ्र धर्मके संचय होनेकेलिये मुमुक्षुपुरुषोंको ईश्वरका आराधनभी अवश्य करना योग्यहै क्योंकि ईश्वरकी प्रसन्नतासे इस जीवके सर्व विघ्नोंका नाश होवेहै और आत्माका साक्षात्कारभी यथार्थ उत्पन्न होवेहै तो पीछे शीघ्रहि संसारबंधनोंसे रहित भया पुरुष कैवल्यमोक्षको प्राप्त होवेहै तथा योगशास्त्रमेंभी लिखाहै (ईश्वरके आराधनसे अंतरआत्माका ज्ञान होवेहै और सर्वविघ्नोंका नाश होवेहै) इति ॥२५॥

किंच

तत्त्वज्ञानात् ॥ २६ ॥

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाये'-त्यादि श्रुतिभ्योधर्मसंचयेनेश्वराराधनेनचसहमोक्षकामैस्तत्त्वज्ञानमपि संपादनीयं तद्यथा पुरुषः प्रकृतिश्चेति तत्त्वद्वयमेव ज्ञातव्यं तयोरेतयोरुभयोरेवान्यतंत्रोक्तान्यखिलान्यपि तत्त्वान्यंतर्भवंति तत्र पुरुषो

नित्योऽनादिश्चेतनोनिरवयवोऽप्रसवधर्माव्यापकोऽव्यक्तः शुद्धश्चेति प्रकृतिस्त्वनादिर्नित्याजडस्वभावा त्रिगुणात्मिका प्रसवधर्मिण्यव्यक्ताव्यापकाचेति तत्र पुरुषस्य रूपद्वयं निरुपाधिकं सोपाधिकंच ब्रह्मांडस्यांतर्बहिश्च सर्वत्र स्थिरचरपदार्थेषु समानतयानुगतमव्यक्तमलिंगं निरुपाधिकमित्युच्यते तदेव ब्रह्मशब्दवाच्यं बोद्धव्यं सोपाधिकं तु द्विविधं जीवेश्वरभेदात् तत्र प्रकृतेः शुद्धसत्त्वेन संयुक्तं ब्रह्म ईश्वरः परमात्माचेत्युच्यते शुद्धसत्त्वाधिष्ठानात्स सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् सर्वांतर्यामी सर्वेश्वरो भवति प्रकृतेरशुद्धांशेनाविद्यासंज्ञकेन संयुक्तं ब्रह्म जीव इत्यभिधीयते अशुद्धसत्त्वांशाश्रयणेन जीवोऽल्पज्ञोऽल्पशक्तिरनीश्वरो भवति । एवं पुरुषस्य निरुपाधिकसोपाधिकभेदेन ब्रह्म ईश्वरो जीवः इति संज्ञात्रयं विज्ञेयं तद्वत्प्रकृतेरपि सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणां गुणानां व्यतिक्रमात् मायाऽविद्या मलिना चेति संज्ञात्रयं जायते तत्र सत्त्वगुणप्रधाना माया रजोगुणप्रधानाऽविद्या तमोगुणप्रधाना मलिना चेत्यभिधीयते तत्र मायासंज्ञिकेश्वरस्योपाधिर्भवति अविद्यासंज्ञिका जीवस्यो-

पाधिर्जायते तमः प्रधानाया मलिनायाः सकाशाच्चे-श्वरसंकल्पानुसारेणाकाशादिपंचमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण समस्तमिदं जडात्मकं जगदुपजायते तदेवं सर्वमेवेदं जडचेतनरूपं विश्वं प्रकृतिपुरुषात्मकं विज्ञेयं तत्रेश्वरो जीवइति पुरुषस्य संज्ञाद्वयमुपाधिनिमित्तिकमेव भागत्यागलक्षणया द्वयोरुपाधिपरित्यागेनैकमेव ब्रह्मावशिष्यते प्रकृतिश्चापि ब्रह्मणः स्वभावभूता शक्तिरेव न ततः पृथग्भवितुमर्हति यथा वह्नेर्दहनशक्तिर्न क्वचिदपि वह्नेः पृथगुपलभ्यते शक्तिशक्तिमतोरभेदात् ततः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठमि'त्यादिश्रुतिवचनादखिलमेवेदं सचराचरं विश्वं ब्रह्मत्वेनावलोकनीयं देवदानवमनुष्यपशुपक्षिकीटपतंगवृक्षलतानदीनदार्णवपर्वतरविशशिग्रहनक्षत्रादिनानाभेदभिन्नतया प्रतीयमानमपीदमेकरूपमेव द्रष्टव्यं ब्रह्मणो द्वितीयस्य वस्त्वंतरस्याभावात् तथाच श्रुतिवचनं 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचने'ति नह्यनेकानां परस्परभिन्नाकृतीनां भूषणानां स्वर्णादन्यत्वं नवा स्थूलसूक्ष्मह्रस्वदीर्घाद्यनेकाकाराणां पात्राणां मृदः पृथक्त्वं भवत्येवमेवेदमखिलं जगद्ब्रह्मजत्वात्त-

द्रूपमेव बोद्धव्यं ननु जडचेतनात्मकमुभयरूपंहि किलेदं जगदुपलभ्यते तत्कथं जडस्य ब्रह्मरूपत्वमिति चेत् नैवमत्राशंकनीयं कुतः सर्वस्याप्यस्य विश्वस्य चेतन-स्वरूपत्वात् चितेः स्फुरणमेवहि जडाकारेण प्रतिभा-तीति वेदितव्यं न वास्तवं किंचिद्वस्तु जडं विद्यते 'बहुस्यां प्रजायेये'ति श्रुतिवचनानुसारेणेश्वरस्य संक-ल्पादेवास्य विश्वस्योत्पत्तिर्जायते नहीश्वरः कुतश्चि-दन्यतः सामग्रीमानीय जगन्निर्माणं कुरुते तस्य सं-कल्पमयमेवेदं सर्वं न किंचित्कठिनं वस्त्वंतरं विद्यते यथास्मत्स्वप्ने संकल्पादृते न किंचिद्वस्त्वंतरं भवति । चेतनात्मकत्वाच्च संकल्पस्य सर्वमेवेदं चेतनस्यैव स्फु-रणं विज्ञेयं केवलं जीवानामुपभोगायेश्वरेच्छया तत्र कठिनत्वादिकं प्रतीयते अतएवाभ्यासबलेन नष्टभ्रां-तीनां केषांचिद्योगिनां सर्वमेवेदमवकाशात्मकमेव संजायते तेहि किल पृथिव्यां मज्जंत्युन्मज्जंतिच पर्व-तानप्यंतरतः प्रविशंति दृढभित्तिस्थानेषु निरुद्धाश्चापि निर्गच्छंति प्रसिद्धमेतद्योगवासिष्ठादीतिहासेषु तस्मा जडचेतनात्मकमखिलमेवेदं विश्वं चेतनब्रह्मस्वरूपमेव सर्वतः समवलोकनीयं तदेतदेव तत्त्वज्ञानं ब्रह्मज्ञानं

चोच्यते दीर्घकालाभ्यासेनास्मिन् दृढतामुपगते सति जीवो भवबंधनाद्विमुक्तः कैवल्यमधिगच्छतीति॥३८॥

तत्त्वज्ञानात् ॥ (ज्ञानसे विना मुक्ति नहि होवेहै मोक्षकेलिये ज्ञानसें विना दूसरा कोई उपाय नहिहै इति) इत्यादि श्रुतिवचनोंके अनुसार पूर्वोक्त धर्मसंचय और ईश्वराराधनके साथ मुमुक्षुलोकोंको तत्त्वज्ञानकाभी संपादन करना चहिये अब तिस तत्त्वज्ञानका प्रकार निरूपण करतेहैं पुरुष और प्रकृति यह दोहि तत्त्व जानने चहिये क्योंकि इन दोनोंमेंहि अन्य शास्त्रोंमे लिखे सवी तत्त्व अंतर्भूत होजातेहैं तिनमें पुरुष नित्य अनादि चेतनस्वरूप निरवयव प्रसवधर्मसे रहित व्यापक अव्यक्त और शुद्धरूपहै तथा प्रकृति अनादि नित्य जडस्वभाव त्रिगुणरूप प्रसवधर्मयुक्त अव्यक्त और व्यापकहै तिनमें पुरुषके दोरूप हैं एक उपाधिसेरहित और दूसरा उपाधिसंयुक्तहै तिनमें जो इस संपूर्ण ब्रह्मांडके अंदर बाहिर सर्वत्र चराचरपदार्थोंमें समानरूपसे व्यापक अव्यक्त और अलक्ष्यरूप है सो उपाधिरहित कहियेहै और दूसरा जो उपाधिसहित है सो फिर दोप्रकारका है एक जीव दूसरा ईश्वरहै तिनमें प्रकृतिके शुद्ध

सत्त्वगुणका अधिष्ठाता होनेसे सो ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वश-
क्तिमान् सर्वांतर्यामी ईश्वर कहियेहै तथा प्रकृतिके अवि-
द्यारूप अशुद्ध अंशकरके युक्त होनेसे सोई ब्रह्म जीव
कहलाताहै और अशुद्ध सत्त्वके आश्रयणकरनेसे जीव अ-
ल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् असमर्थ होवेहै इसप्रकार सोपा-
धिक निरुपाधिकभेदसें पुरुपके ब्रह्म ईश्वर और जीव
यह तीन नाम जानने चहिये तिसीप्रकार प्रकृतिकेभी
सत्त्व रज तम इन तीनों गुणोंके व्यतिक्रमसे माया अ-
विद्या और मलिना यह तीन नाम होतेहैं तिनमें सत्त्व-
गुणप्रधान माया कहियेहै रजोगुणप्रधान अविद्या कहि-
येहै और तमोगुणप्रधान मलिना कहियेहै तिनमें माया
ईश्वरकी उपाधिहै और अविद्या जीवकी उपाधिहै और म-
लिनाके सकाशसे ईश्वरके संकल्पके अनुसार आकाश वायु
आदि पंच महाभूतोंकी उत्पत्तिद्वारा इस जडरूप संपूर्ण
जगत्की उत्पत्ति होवेहै सो इसप्रकार जड चेतनरूप संपूर्ण
जगत् प्रकृतिपुरुषरूप जानना चहिये तहां ईश्वर और
जीव यह पुरुषके दो भेद केवल उपाधिके कारणसे हैं
भागत्यागलक्षणासे दोनोंकी उपाधिके त्याग देनेसें बाकी

एक शुद्ध ब्रह्महि रहताहै तथा प्रकृतिभी ब्रह्मकी स्वभावभूत
शक्तिहै सो ब्रह्मसे भिन्न नहि होसकती जैसे अग्निकी
दहनरूप शक्ति अग्निसे भिन्न नहि होसकती क्योंकि
शक्ति और शक्तिमान्मे कुछ भेद नहि होवेहै यातें
(यह संपूर्ण जगत् ब्रह्महै यह सर्व विश्वश्रेष्ठ ब्रह्मरूपहै
इति) इत्यादि श्रुतिवचनोंके अनुसार यह चराचर
संपूर्ण जगत् एक ब्रह्मरूपहि देखना चहिये देवता दैत्य
मनुष्य पशु पक्षि कीट पतंग वृक्ष लता नदी नद समुद्र
पर्वत सूर्य चंद्रमा ग्रह नक्षत्र इत्यादि नानाप्रकारसे भिन्न
भिन्न रूप प्रतीत होनेपरभी इस संपूर्ण जगत्को एक
ब्रह्मरूपहि देखना चहिये क्योंकि ब्रह्मके सिवाय कोई
दूसरी वस्तु नहिहै तथा श्रुतिकाभी वचनहै 'एकहि
अद्वैत ब्रह्महै नानाभेद कुछ नहि है' जैसे अनेक पर-
स्पर भिन्नभिन्न आकारवाले सुवर्णके भूषण स्वर्णसे भिन्न
नहि होतेहैं और जैसे मोटे पतले छोटे वडे अनेकप्रका-
रके वर्तन मिट्टीसे भिन्न नहि होतेहैं तैसेहि यह संपूर्ण
जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होनेसे ब्रह्मरूपहि जानना चहिये।
जड और चेतन दोनों रूप यह संपूर्ण जगत् देखनेमे
आवेहै तो जडपदार्थ ब्रह्मरूप कैसे होसकतेहैं ऐसी शंका

यहांपर नहि करनी चहिये क्योंकि यह सवी जगत्
चेतनस्वरूपहि है केवल चेतनका स्फुरणहि जडके आ-
कारसे प्रतीत होय रहाहै वास्तवमें कोई वस्तु जड
नहिहै क्योंकि 'मैं वहुतरूपसे उत्पन्न होवुं' इस श्रुतिवचनके
अनुसार ईश्वरके संकल्पसेहि सर्व जगत्की उत्पत्ति होवेहै
सो ईश्वर कहीं दूसरी जगासे कुछ सामग्री लायकरके
जगत्को नहि रचताहै किंतु यह सर्व जगत् उसका सं-
कल्परूपहि है कोई भी इसमें कठिन वस्तु नहिहै जैसे
हम लोकोंके स्वप्नेमें संकल्पके विना कोई दूसरी कठिन
वस्तु नहि होवेहै। और सो ईश्वरका संकल्प चेतनरूप
होनेसे यह संपूर्ण जगत् चेतनका स्फुरणहि जानना
चहिये केवल जीवोंके उपभोगकेलिये ईश्वरके संकल्पसे
इसमें कठिनपणा भारीपणा आदि प्रतीत होवेहै इसी-
लिये योगाभ्यासके वलसे कोईएक योगियोंकी भ्रांतिके
नष्ट होजानेसे तिनको यह सर्व जगत् अवकाशरूपहि
होजाताहै सो योगीलोक पृथिवीमें जलकीन्यांई नीचे
उतर जातेहैं और फिर ऊपर आय जातेहैं दृढ भीतों-
वाले मकानोंमे वंद कियेहूये अपनी इच्छासे वाहिर
निकल जातेहैं अर्थात् तिनको सर्वजगत् निरावरण हो-

जाता है यह वार्ता योगवासिष्ठ आदिग्रंथोंमें लीलाचूडाला आदिके इतिहासोंमें प्रसिद्ध हि है यातें जडचेतनरूप यह संपूर्ण जगत् चेतन ब्रह्म स्वरूपहि सर्वतरफसे देखना योग्य है। इसीको ब्रह्मज्ञान वा तत्त्वज्ञान कहतेहैं इसके दीर्घकाल विचारनेसे दृढ निश्चय होनेपर सर्व भवबंधनसे रहित भया यह पुरुष कैवल्य मोक्षपदको प्राप्त होवेहै इति ॥ ३६ ॥

तदभ्यासाच्च ॥ ३७ ॥

तत्त्वज्ञानविचारानंतरं तस्य ज्ञेयतत्त्वस्य ब्रह्मणो ध्यानाभ्यासोपि कर्त्तव्यः। वेदांतादिशास्त्रश्रवणादिना जातमप्येतत्तत्त्वज्ञानमेकांतब्रह्मध्यानाभ्यासं विना सांसारिकव्यवहारवासनया प्रतिबद्धं न कैवल्यहेतुतामाश्रयते ततो ज्ञानश्रवणानंतरं बाह्यव्यवहारप्रवृत्तिं विहायैकांतनिकेतने सततं ब्रह्मध्यानमनुष्ठेयं तेन चित्तस्थैर्यें यथावद्वस्तुतत्त्वं प्रकाशते यथा निर्वातस्थानस्थिते जलपात्रे मुखं स्पष्टमुपलक्ष्यते तद्वदेव ध्यानाभ्यासेन निर्मलं तत्त्वविदो मनो ब्रह्मांडस्यास्यांतर्बहिश्च सर्वत्र सर्वं जगदिदं ब्रह्ममयमेवावलो-

कयति ततस्तस्य ब्रह्मदृष्टिपरिपाकेन द्वितीयत्वभाना-
भावाद्रागद्वेषयोः स्वतएव निवृत्तिर्जायते जगद्रच-
नायाश्च मिथ्यात्वावभासेन व्यवहारप्रवृत्तिरपि शि-
थिलतामापद्यते नहि मृगतृष्णा जलानयनार्थं धावतो
जनस्य मृगतृष्णाया यथार्थबोधे जाते पुनर्धावने
प्रवृत्तिः संभवति बाह्यप्रवृत्त्यभावाच्च शिथिलितश-
रीरव्यवहारः शरीरारंभककर्मक्षयपर्यंतं यथाकथंचि-
द्विष्टि गृहीतइव विचेष्टते ततः प्रारब्धकर्मणामंते
स्थूलं सूक्ष्मं च शरीरं हित्वा नष्टाविद्यो निर्विघ्नं कै-
वल्यं समश्नुत इति ॥ ३७ ॥

तदभ्यासाच्च ॥ इसप्रकार तत्त्वज्ञानके विचारके अनं-
तर तिस ब्रह्मतत्त्वके ध्यानका अभ्यासभी निरंतर करना
चहिये क्योंकि वेदांतआदिशास्त्रोंके श्रवणसें उत्पन्न
हूयाभी तत्त्वज्ञान निरंतर ब्रह्मध्यानके विना संसारके
व्यवहारकी वासनायोंकरके प्रतिबद्ध होनेसे कैवल्यमो-
क्षका हेतु नहि होसके है इसलिये ज्ञानश्रवणके पीछे
बाहिरकी व्यवहारप्रवृत्ति छोडकर एकांतस्थानमें बैठकर
सर्वदाकाल ब्रह्मका ध्यान करना योग्य है तिस ध्यानसें
चित्तके स्थिर होनेसे आत्मतत्त्वका यथार्थ अनुभव होवेहै

जैसे निवातस्थानमें धरेहूये जलके पात्रमें देखनेसे मुख स्पष्ट प्रतीत होवेहै तैसेहि ध्यानके अभ्याससे निर्मल-भया ज्ञानी पुरुषका मन इस ब्रह्मांडके अंदर बाहिर सर्वत्र सर्व जगत्को ब्रह्मरूपहि देखताहै तो पीछे ब्रह्मदृष्टिके परिपक्क होनेसे द्वैतभावके दूर होनेसे रागद्वेषकी स्वतः हि निवृत्ति होजावेहै तथा संपूर्ण जगत् रचनाके मिथ्या-पनेके निश्चय होनेसे व्यवहारकी प्रवृत्तिभी शिथिल होजाती है क्योंकि जैसे मृगतृष्णाके जलको लानेकेलिये दौडतेहूये पुरुषको जब यह मृगतृष्णाका जल है इसप्र-कारका यथार्थ बोध होजावेहै तो फिर उसकी तिसकी तरफ दौडनेमें प्रवृत्ति नहि होसकतीहै सो बाह्य प्रवृ-त्तिके अभाव होनेसे ज्ञानीके शरीरकाव्यवहार शिथिल होजावेहै और प्रारब्धकर्मके क्षयपर्यंत बिगारमें पक-डेहूये पुरुषकी न्यांई जैसे तैसे सो खानपान आदि चेष्टा करताहै और फिर प्रारब्धकर्मोंके अंतमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंको छोडकर अविद्यासे रहित भया निर्विघ्न कैवल्यमोक्षको प्राप्त होवेहै इति ॥ २७ ॥

तदा मोक्षदशायां जीवात्मनः कीदृशी स्थिति-र्भवतीति जिज्ञासायामाह

उपाधिविरहे चितेः स्वरूपावस्थानं कैवल्ये ॥३८॥

कैवल्यंदशायामविद्यासहितलिंगशरीरात्मकोपाधिविश्लेषे जीवचैतन्यस्योपाधिसंयोगतः पूर्वमिव घटनाशे घटाकाशस्येव स्वेन व्यापकरूपेणावस्थानं भवति तदापरेण ब्रह्मणैकीभावमुपगतो जीवः शुद्धो बुद्धो निरंजनः परमानंदस्वरूपो विराजत इति ॥ ३८ ॥

प्रश्न । मोक्षदशामें जीवात्माकी कैसी स्थिति होवेहै । उत्तर, उपाधिविरहे चितेः स्वरूपावस्थानं कैवल्ये ॥ कैवल्यदशामें अविद्यासहित लिंगशरीररूप उपाधिके वियोगहोनेसें घटके टूटनेसें घटाकाशकी महाकाशमें एकताकीन्यांई जीवात्माकी ब्रह्मके साथ एकता होनेसे व्यापकरूपसे स्थितिः होवेहै और सो परब्रह्मके साथ एकीभावकों प्राप्त हूया शुद्ध बुद्ध निरंजन परमानंदरूपसे विराजमान होवेहै इति ॥ ३८ ॥

कैवल्यमोक्षं गच्छतां जीवानां क्रमेण कदाचित्समाप्तिरेव भविष्यतीति चेत्

न जीवसमाप्तिः संख्याऽभावात् ॥ ३९ ॥

नहि जीवानामियत्ता विद्यते यतस्तत्समाप्ति-

शंका स्यात् असंख्यातत्वात्तु तेषां न कदापि समा-
प्तिर्भविष्यति तथाच श्वेताश्वतरोपनिषदि 'बाला-
ग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स
विज्ञेयः सचानंत्याय कल्पत' इति ॥ ३९ ॥

शंका । उक्तरीतिसें कैवल्यमोक्षको प्राप्त होनेसें धीरे
धीरे कदाचित् संपूर्ण जीवोंकी समाप्ति होजावेगी । स-
माधान, न जीवसमाप्तिः संख्याभावात् ॥ जीवोंकी कोई
नियत गिणती नहि है कि जिससे उनकी समाप्तिकी
शंका होसके अनगिणत होनेसे जीवोंकी कबी समाप्ति
नहि होसकती है तथा श्वेताश्वतर उपनिषत्‌में लिखा
है (एक वालके सौ भागकरके फिर तिनमें एकके
सौभागकरनेसे जितना सूक्ष्म होवेहै उतनाहि जीवका
स्वरूप सूक्ष्म जानना चहिये और सो जीव अनंत हैं
अर्थात् तिनकी कोई संख्या नहिहै इति ॥ ३९ ॥

ब्रह्मणोऽनंतत्वाच्चानंतत्वाच्च ॥ ४० ॥

'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' 'अनाद्यनंतं कलिलस्य
मध्ये' 'नैनमूर्ध्वं न तिर्यचं न मध्ये परिजग्रभादि'-
त्यादिश्रुतिवचनेषु ब्रह्मणोऽनंतत्वं प्रसिद्धं देशतः

कालतश्च ब्रह्मणोऽनंतत्वात् तदवयवभूतानां जीवा वामप्यनंतत्वं ज्ञातव्यं जीवानां समाप्तौतु ब्रह्मणोप्यंतो भविष्यत्येव नह्यवयवनाशे पुनरवयविनः स्थितिः संभवति जीवानां ब्रह्मणोऽवयवत्वंच 'तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन' इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु प्रसिद्धमेवातो मोक्षगत्या जीवानां न कदापि समाप्तिर्भविष्यतीत्यवसेयं वीप्सापादसमाप्त्यर्थौ ॥ ४० ॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यब्रह्मानंदस्वामिविरचिते धर्मानुशासने चतुर्थःपादःसमाप्तः समाप्तं चेदं शास्त्रम् ।



ब्रह्मणोऽनंतत्वात् ॥ (ब्रह्म सत्य ज्ञानस्वरूप और अनंत है इस जगत्में ब्रह्मका आदि और अंत नहि है इस परमात्माका ऊपरसे तिरछेसे और मध्यसे किसीने अंत नहि पाया है इति) इत्यादि वेदके वचनोंमें ब्रह्मका अनंतपणा प्रसिद्ध है सो देश और कालसे ब्रह्मको अनंत होनेसे तिसके अंगभूत जीवोंकोभी अनंतहि जानना चहिये जो जीवोंकी समाप्ति मानेंगे तो ब्रह्मकाभी अंत हो जावेगा क्योंकि अंगोंके नाश होनेसे फिर अंगीकी

स्थिति नहि हो सकती है सो जीव ब्रह्मके अंगरूप हैं यह वार्ता श्वेताश्वतर उपनिषत्में लिखी है (तिस परमात्माके अंगभूत जीवोंकरके यह संपूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है इति) तथा भगवत्गीतामेंभी लिखा है (इस जगत्में यह जीव मेराहि अंशभूत है इति) यातें मोक्ष होनेसे जीवोंकी कवी समाप्ति नहि होसकत्ती है ऐसा निश्चय करना चहिये सूत्रमें जो दोवार उच्चारण है सो पादकी समाप्तिके लिये है ॥ ४० ॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य ब्रह्मानंदस्वामिविरचिते धर्मानुशासने चतुर्थःपादः समाप्तः ।



(अथ श्रीपरमेश्वरप्रातःस्मरणम्)



प्रातः स्मरामि जगदीशमनंतमाद्यं साध्यं सदा प्रणवचिंतनतत्त्वविज्ञैः ॥ सच्चित्सुखात्मकमजं जगदेकपालं कालं रवीन्दुगतिचक्रपरं पुराणम् ॥ १ ॥ प्रातः स्मरामि परमेश्वरमादिदेवं दैवं परं दिविषदामपि दैवतानाम् ॥ संसारदुस्तरमहार्णवपारतीरं धीरं धरांबुपवनाग्निनभोनिदानम् ॥ २ ॥ प्रातः स्मरामि भजतां भवभीतिहारं सारं समस्तनिगमागमपद्धतीनाम् ॥ तारं भवांबुनिधिनीरपरंपरायाः पारं सदा जननमृत्युजरामयानाम् ॥ ३ ॥ प्रातः स्मरामि मुनिपुंगवकर्णपेयं ध्येयं सुरासुरनरैरनिशं शरण्यम् ॥ गेयं सभाभवनमंदिरमंडलेषु मेयं च माननिपुणैरखिलोपमाभिः ॥ ४ ॥ प्रातः स्मरामि दिवि भूमितले प्रविष्टं निष्ठं सतां हृदयपंकजकोटरेषु ॥ कारुण्यसागरमनंतगुणैकसिंधुमिन्दूपमोज्ज्वलसहस्रमयूखकांतिम् ॥ ५ ॥ प्रातः स्मरामि जगतो रचना प्रवीणं हीनं समस्तजनतागुणदोषसंगैः ॥ आकारवर्जितमनेकविकारकोषं पोषं चराचरशरीरभृतामजस्रम् ॥ ६ ॥ प्रातः स्मरामि

शिवशक्तिगणेशगीतं नीतं मुनीन्द्रनिवहैर्हृदयांबुजेषु॥ क्रीतं तपोजपदयार्जवसत्यशीलैः प्रीतं सदैव निजनामजपज्जनेषु ॥ ७॥ प्रातः स्मरामि परमोच्चगुणावतंसं हंसं चराचरजगद्धृदये चरंतम् ॥ निःशेषविश्वरचनाप्रलयांतकांतं भांतं दिनेशशशिविद्युदुडूदरेषु ॥ ८ ॥ प्रातः स्मरामि जगतां जननैकहेतुं सेतुं भवांबुनिधिनीरनिमज्जतां वै ॥ संसारचक्रकरणं करुणानिधानं ज्ञानं मुमुक्षुजनचिंत्तविचिंत्यमानम् ॥ ९ ॥ प्रातर्नमामि नमनीयपदं महांतं शांतं सदा भुवननाशसमुद्भवेषु ॥ वेदांतवाक्यगणसारविचारगम्यं रम्यं समस्तरमणीयकलाधराणाम् ॥ १० ॥ इत्थं समुत्थितधियः परमेश्वरं ये प्रातः स्मरंति ननु नित्यमनन्यचित्ताः ॥ ते वै दुरंतदुरितानि निरस्य दूरात् पूर्णं परेश्वरपदं परियंति सत्यम् ॥ ११ ॥

इति श्रीब्रह्मानंदस्वामिविरचितमीश्वर-
प्रातःस्मरणं समाप्तम् ।